नियमसार अनुशीलन

मंगलाचरण

(अडिल्ल)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणमय भाव जो।
शिवमग के आधार जिनागम में कहे।।
करने के हैं योग्य नियम से कार्य वे।
नियमसार के एकमात्र प्रतिपाद्य वे।।1।।

पद्रव्यों से भिन्न ज्ञानमय आतमा।
रागादिक से भिन्न ज्ञानमय आतमा।।
पर्यायों से पार ज्ञानमय आतमा।
भेदभाव से भिन्न सहज परमातमा।।2।।

यह कारण परमातम इसके ज्ञान से।
इसमें अपनेपन से इसके ध्यान से।।
बने कार्य परमातम हैं जो वे सभी।
सिद्धशिला में थित अनंत अक्षय सुखी।।3।।

उन्हें नमन कर उनसा बनने के लिये।
अज अनंत अविनाशी अक्षय भाव में।।
अपनापन कर थापित उसमें ही रमूँ।
रत्नत्रयमय साम्यभाव धारण करूँ।।4।।

एकमात्र श्रद्धेय ध्येय निज आतमा।
एकमात्र है परमज्ञेय निज आतमा।।
ज्ञान-ध्यान-श्रद्धान इसी का धर्म है।
शिवसुख कारण यही धर्म का मर्म है।।5।।

भव्यजनों का मानस इसके पाठ से।
परभावों में अपनेपन से मुक्त हो।।
अपने में आ जाय यही है भावना।
मेरा मन भी नित्य इसी में रत रहे।।6।।

५

परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार

(गाथा ७७ से गाथा ९४ तक)

नियमसार अनुशीलन भाग-१ में अबतक जीवाधिकार, अजीवाधिकार, शुद्धभावाधिकार और व्यवहारचारित्राधिकार में वर्णित विषयवस्तु की चर्चा हुई और अब इस नियमसार अनुशीलन भाग-२ में परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार में समागत विषयवस्तु की चर्चा आरंभ करते हैं।

इस अधिकार की टीका आरंभ करते समय मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव मंगलाचरण के रूप में आचार्य माधवसेन को नमस्कार करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(वंशस्थ)

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये
स्मरेभकुम्भस्थलभेदनाय वै।
विनेयपंकेजविकाशभानवे
विराजते माधवसेनसूरये ।।१०८।।

(हरिगीत)

कामगज के कुंभथल का किया मर्दन जिन्होंने।
विकसित करें जो शिष्यगण के हृदयपंकज नित्य ही।।
परम संयम और सम्यक्बोध की हैं मूर्ति जो।
हो नमन बारम्बार ऐसे सूरि माधवसेन को।।१०८।।

संयम और ज्ञान की मूर्ति, कामरूपी हाथी के कुंभस्थल को भेदनेवाले तथा शिष्यरूपी कमलों को विकसित करने में सूर्य के समान सुशोभित हे माधवसेन सूरि ! आपको नमस्कार हो।

जिन माधवसेन सूरि को नियमसार परमागम के टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्मरण कर रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं, संयम और ज्ञान की मूर्ति बता रहे हैं, कामगज के कुंभस्थल को भेदनेवाले कह रहे हैं और शिष्यरूपी कमलों को खिलानेवाले बता रहे हैं; यद्यपि वे माधवसेन आचार्य कोई साधारण व्यक्ति तो हो नहीं सकते, कोई प्रभावशाली आचार्य ही होने चाहिए; तथापि उनके संबंध में न तो विशेष जानकारी उपलब्ध है और न उनकी कोई कृति ही प्राप्त होती है।

उनके बारे में जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में मात्र इतना ही लिखा है कि वे माथुर संघ की गुर्वावली के अनुसार नेमिषेण के शिष्य और श्रावकाचार के कर्ता अमितगति के गुरु थे और उनका समय विक्रम संवत् १०२५ से १०७५ के बीच का था।

डॉ. नेमीचन्दजी ज्योतिषाचार्य के **भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा** नामक ग्रन्थ में भी उनके संदर्भ में कुछ नहीं लिखा गया। जो भी हो, पर वे ऐसे प्रभावक आचार्य अवश्य रहे होंगे, जिन्हें पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे अध्यात्मरसिया मुनिराज नियमसार की टीका जैसे ग्रंथ में स्मरण करें और श्रद्धापूर्वक उन्हें नमस्कार करें।।१०८।।●

जिस आत्मा को जाना है, माना है; उसी में रम जाना, समा जाना ही वस्तुत: चारित्र है। स्वयं में लीन हो जाना ही वास्तविक चारित्र है। जिसके अन्तर में यह वास्तविक चारित्र प्रकट हो जाता है, उसकी बाह्य परिणति भी सहज ही शुद्ध होने लगती है। फिर उससे अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती, हो ही नहीं सकती। यदि अनर्गल प्रवृत्ति हो तो समझना चाहिए कि उसे अभी अन्तर में वास्तविक चारित्र प्रकट ही नहीं हुआ है। अन्तर में वास्तविक चारित्र प्रकट हो जावे और बाह्य प्रवृत्ति अनर्गल बनी रहे, यह सम्भव ही नहीं है। **ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ ८५**

नियमसार गाथा ७७ से ८१

उक्त गाथाओं की उत्थानिका लिखते हुए पद्मप्रभमलधारिदेव विगत और आगत ह्न दोनों अधिकारों की संधि भी बताते हैं। कहते हैं कि विगत अधिकार में निरूपित सम्पूर्ण व्यवहारचारित्र और उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष जो शुद्धनिश्चयपरमचारित्र है, उसका प्रतिपादन करनेवाले परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार की चर्चा आरंभ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि विगत व्यवहारचारित्राधिकार में मुख्यरूप से पुण्यबंध के कारणरूप व्यवहारचारित्र का स्वरूप बताया गया है।

अब इस अधिकार में सर्वप्रकार के पुण्य-पाप के बंध से मुक्त होने का कारणभूत निश्चयचारित्र का निरूपण करेंगे।

सबसे पहले पंचरत्न का स्वरूप कहते हैं। इसप्रकार अब यहाँ पाँच रत्नों का अवतरण होता है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।७७।।
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।७८।।
णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।७९।।
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।८०।।
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।८१।।

(हरिगीत)

मैं नहीं नारक देव मानव और तिर्यग मैं नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।७७।।

मार्गणास्थान जीवस्थान गुणथानक नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।७८।।
बालक तरुण बूढा नहीं इन सभी का कारण नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।७९।।
मैं मोह राग द्वेष न इन सभी का कारण नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।८०।।
मैं मान माया लोभ एवं क्रोध भी मैं हूँ नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं।।८१।।

नरकपर्याय, तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय और देवपर्यायरूप मैं नहीं हूँ। इन पर्यायों का करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मार्गणास्थान, गुणस्थान और जीवस्थान भी मैं नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं बालक, वृद्ध या जवान भी नहीं हूँ और इन तीनों का कारण भी नहीं हूँ। उन तीनों अवस्थाओं का करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं मोह, राग और द्वेष नहीं हूँ, इनका कारण भी नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

मैं क्रोध, मान, माया और लोभ भी नहीं हूँ। इनका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही बताया गया है कि नर-नारकादि पर्यायों; मार्गणा, गुणस्थान और जीवस्थान आदि भावों; बालक, तरुण, वृद्ध आदि अवस्थाओं, मोह-राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों और क्रोधादि कषायोंरूप आत्मा नहीं है। इन सबका करनेवाला, करानेवाला और करने-कराने की अनुमोदना करनेवाला भी आत्मा नहीं है।

तात्पर्य यह है कि इनसे त्रिकाली ध्रुव आत्मा का कोई संबंध नहीं

है और वह त्रिकाली ध्रुव आत्मा मैं ही हूँ। मेरा अपनापन भी एकमात्र इसी में है।

उक्त गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्तिकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अब यहाँ शुद्धात्मा को सकल कर्तृत्व का अभाव दिखाते हैं।

बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह का अभाव होने के कारण मैं नारकपर्याय रूप नहीं हूँ। संसारी जीवों के बहुत आरंभ और परिग्रह व्यवहार से होता है; इसलिए उसे नरकायु के हेतुभूत सभी प्रकार के मोह-राग-द्वेष होते हैं, परन्तु वे मुझे नहीं हैं; क्योंकि शुद्धनिश्चयनय के बल से अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धजीवास्तिकाय में वे नहीं होते।

तिर्यंचपर्याय के योग्य मायामिश्रित अशुभकर्म का अभाव होने से मैं तिर्यंचपर्याय के कर्तृत्व से रहित हूँ।

मनुष्यनामकर्म के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्मों का अभाव होने से मुझे शुद्धनिश्चयनय से मनुष्यपर्याय नहीं है।

'देव' इस नामवाली देवपर्याय के योग्य सुरससुगंधस्वभाववाले पुद्गलद्रव्य का अभाव होने से निश्चय से मुझे देवपर्याय नहीं है।

चौदह-चौदह भेदवाले मार्गणास्थान, जीवस्थान और गुणस्थान शुद्धनिश्चयनय से परमभाव स्वभाववाले आत्मा को (मुझे) नहीं है।

मनुष्य और तिर्यंचपर्याय की काया के वयकृत विकार से उत्पन्न होनेवाले बाल, युवा, प्रौढ और वृद्ध आदि अवस्थारूप उनके स्थूल, कृश आदि अनेक प्रकार के भेद शुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से मेरे नहीं हैं।

सत्ता, अवबोध, परमचैतन्य और सुख की अनुभूति में लीन ह्न ऐसे विशिष्ट आत्मतत्त्व को ग्रहण करनेवाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से मुझे सभीप्रकार के मोह-राग-द्वेष नहीं हैं।

सहजनिश्चयनय से सदा निरावरणस्वरूप, शुद्धज्ञानरूप, सहज-

चित्शक्तिमय, सहजदर्शन के स्फुरण से परिपूर्ण मूर्ति और स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज यथाख्यातचारित्रवाले मुझे समस्त संसार-क्लेश के हेतु क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं हैं।

अब इन विविध विकल्पों से आकुलित विभावपर्यायों का निश्चय से मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और पुद्गल कर्मरूप कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

मैं नारकपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता (चेतता) हूँ। मैं तिर्यंचपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ। मैं मनुष्यपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ। मैं देवपर्याय को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं चौदहमार्गणा के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान भेदों को नहीं भाता; मैं तो सहज-चैतन्य विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं एकेन्द्रियादि जीवस्थान भेदों को नहीं भाता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं शरीरसंबंधी बालकादि अवस्था भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं रागादि भेदरूप भावकर्म के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहज-चैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

मैं तो भावकर्मात्मक चार कषायों के भेदों को नहीं करता; मैं तो सहजचैतन्य के विलासात्मक आत्मा को ही भाता हूँ।

इसप्रकार पाँच रत्नों के शोभित कथनविस्तार के द्वारा सम्पूर्ण विभाव पर्यायों के संन्यास का विधान कहा।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा के भानसहित एकाग्रता करना, वह प्रतिक्रमण है। कोई तिर्यंच सम्यग्दृष्टि हो, तथापि वह समझता है कि मैं पशु की अवस्थारूप नहीं हूँ; वह शरीर को जड़ की पर्याय समझता है, अपना स्वरूप नहीं मानता। इसीप्रकार धर्मीजीव मनुष्य हो या देव हो, तो भी वह समझता है कि मैं तीन काल के भवरहित हूँ ह्न मैं तो ज्ञाता चैतन्यस्वरूप हूँ।[१]

सम्यग्दृष्टि जीव समझता है कि मैं तो अखण्ड ज्ञायकस्वभावी हूँ। गति आदि मार्गणास्थान के भेद, एक से लगाकर चौदह गुणस्थान तक के भेद, पंचेन्द्रिय आदि जीवस्थान के भेद मैं नहीं हूँ; उन भेदों का कर्ता, प्रेरक या अनुमोदक नहीं हूँ। वे भेद तो व्यवहारनय के विषय हैं, निश्चयदृष्टि उन भेदों को नहीं स्वीकारती।[२]

आठ वर्ष के बालक-बालिका भी सम्यक्त्वाधिकारी हैं। वे मानते हैं कि **मैं बालक नहीं हूँ। शरीर जड़ है। उसकी अवस्था जड़ के कारण होती है, मेरे कारण नहीं होती। मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ। धर्मीजीव मानता है कि शरीर की किसी भी अवस्था का मैं कर्ता नहीं, करानेवाला नहीं, अनुमोदक नहीं हूँ।** युवावस्था हो तो धर्म हो और वृद्धावस्था में धर्म न हो, यह बात उसे स्वीकार नहीं, वह मानता है कि मेरी धर्मदशा तो मेरे चैतन्यस्वभाव के आधार से है।

यहाँ कोई **शंका** करे कि शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि जबतक 'इन्द्रियाँ शिथिल न पड़ें, वृद्धावस्था न आवे, रोग-व्याधि न घेरे; तब तक धर्म कर लेना चाहिए' ह्न इसका क्या अर्थ है ?

समाधान ह्न भाई ! **उपदेश के वचन ऐसे ही होते हैं। उनमें छुपा हुआ रहस्य कुछ भिन्न ही होता है। यदि वह रहस्य न समझे तो घोटाला हो जाता है।** वे सब निमित्त के कथन हैं, जीव का पुरुषार्थ जागृत कराने

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६३९
२. वही, पृष्ठ ६४०

के लिए उपदेश के वचन हैं। धर्म शरीर से नहीं होता, किन्तु शुद्धचैतन्य-स्वभाव के आश्रय से होता है।[१]

पंचमहाव्रतादि का अथवा द्वादशव्रत का राग हो या अशुभभाव का राग हो; वह सब एक समय की पर्याय में है, शुद्धस्वभाव में नहीं। सम्यक्त्वीजीव राग को अपना स्वरूप नहीं मानता, युद्ध के समय में द्वेष के परिणाम होने पर भी उस द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानता; पर में सावधानी का भाव मोह है, उसको धर्मीजीव अपना स्वरूप नहीं मानता।[२]

क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम पर्याय में होते हैं, स्वभाव में नहीं; अत: धर्मीजीव उन परिणामों का कर्ता नहीं है, करानेवाला नहीं है, अनुमोदना करनेवाला भी नहीं है।[३]

पर्याय में होनेवाले राग-द्वेषादि परिणाम को गौण करके स्वभाव-दृष्टि कराने के लिए शुद्ध आत्मा में उनका अभाव कहा है।[४]

विकार के परिणाम एक समय की पर्याय में होते हैं, तथापि भेद का आश्रय छुड़ाकर तथा राग को गौण करके व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है और शुद्धस्वभाव को भूतार्थ कहा है।[५]

यहाँ टीका में जैसे कर्ता के विषय में वर्णन किया है, वैसे ही आत्मा भेदों का करानेवाला तथा यह भेद पड़े तो ठीक, इसप्रकार अनुमोदन करनेवाला भी नहीं है। किसी भी भेद को करना, कराना या अनुमोदन करना वस्तुस्वभाव में है ही नहीं, इसलिए धर्मीजीव स्वभाव की एकाग्रता को भाता है।

इसप्रकार पाँच रत्नों के शोभित कथन-विस्तार द्वारा सकल विभावपर्यायों के त्याग का विधान कहा है। यह प्रतिक्रमण की बात है,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६४१
२. वही, पृष्ठ ६४१
३. वही, पृष्ठ ६४२
४. वही, पृष्ठ ६४२
५. वही, पृष्ठ ६४३

इसलिए विभाव के त्याग की बात की है। **वास्तव में तो शुद्धस्वभाव में लीनता करने पर विभाव उत्पन्न ही नहीं होता।**[१]''

गाथाओं, उनकी टीका और स्वामीजी के स्पष्टीकरण का सार यह है कि परमशुद्धनिश्चयनय और दृष्टि के विषयभूत ध्यान के ध्येयरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में, जो कि स्वयं मैं ही हूँ, न तो नरकादि पर्यायें हैं, न मार्गणास्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ही हैं, न वह बालक, जवान और वृद्ध ही होता है, न उसमें मोह-राग-द्वेष हैं और न क्रोधादि कषायें हैं।

उक्त सभी प्रकार की अवस्थाओं और भावों का यह भगवान आत्मा स्वामी और कर्ता-भोक्ता भी नहीं है। **तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा अर्थात् मैं स्वयं न तो इन्हें करता हूँ, न कराता हूँ और न करने-कराने का अनुमोदक ही हूँ। इसप्रकार मैं इनसे कृत, कारित और अनुमोदना से भी अत्यन्त दूर हूँ।**

प्रतिक्रमण में इसप्रकार का चिन्तन-मनन किया जाता है। इसप्रकार का चिन्तन करते हुए यह आत्मा इनसे संन्यास लेता है।।७७-८१।।

इसके बाद पद्मप्रभमलधारिदेव एक कलश लिखते हैं, जिसमें उक्त प्रतिक्रमण और संन्यास का फल बताया गया है। वह मूलत: इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

भव्य: समस्तविषयाग्रहमुक्तचिन्त:
स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्त:।
मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पंचरत्नात्।।१०९।।

(हरिगीत)

सम्पूर्ण विषयों के ग्रहण की भावना से मुक्त हों।
निज द्रव्य गुण पर्याय में जो हो गये अनुरक्त हों।।
छोड़कर सब विभावों को नित्य निज में ही रमें।
अति शीघ्र ही वे भव्य मुक्तीरमा की प्राप्ति करें।।१०९।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६४७-६४८

इसप्रकार उक्त पंचरत्नों के माध्यम में जिसने सभीप्रकार के विषयों के ग्रहण की चिन्ता को छोड़ा है और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप में चित्त को एकाग्र किया है; वह भव्यजीव निजभाव से भिन्न सम्पूर्ण विभावों को छोड़कर अतिशीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस कलश में निष्कर्ष के रूप में मात्र इतना ही कहा है कि जो आत्मार्थी उक्त पाँच गाथाओं और उनकी टीका में समझाये गये भाव को गहराई से ग्रहण कर, **पंचेन्द्रिय विषयों के ग्रहण संबंधी विकल्पों से विरक्त हो, उनकी चिन्ता को छोड़कर अपने आत्मा में उपयोग को स्थिर करता है, उसे ही निजरूप जानता है, मानता है और उसी में जमता-रमता है; वह आत्मार्थी अल्पकाल में ही समस्त विभावभावों से मुक्त हो मुक्ति सुन्दरी का वरण करता है।।१०९।।** ●

पर से भिन्न निज को जानने से क्या मतलब ? क्या पर को नहीं जानना है; मात्र पर से भिन्न निज को जानना है ?

पर को जानना है, पर उसे मात्र जानना ह्न उसमें जमना नहीं, रमना नहीं, उसमें डटना नहीं; उससे हटना है। जबकि निज को जानकर उसमें जमना भी है; रमना भी है, उसी में समा जाना है। अपने में ही समा जाना भेद-विज्ञान का फल है। पर को भी जानना है, पर उसकी गहराई में नहीं जाना है। निज को जानना भी है और उसकी गहराई में भी जाना है।

क्यों ?

क्योंकि पर को जानना हमारा मूल प्रयोजन नहीं है। निज को जानना, मानना, निज में ही जमना, रमना आत्मार्थी का मूल प्रयोजन है। पर को तो मात्र इसलिए जानना है कि पर को निज न मान लिया जाए। अत: निज को तो, निज को जानने के लिए जानना ही है, परन्तु पर को भी निज को जानने के लिए जानना है। निज को जानना मूल प्रयोजन है, क्योंकि निज को जानने में ही अपना हित है। पर को, जानो तो ठीक, न जानो तो ठीक, जब आत्मा का 'जानना' स्वभाव है तो पर भी जानने में आ ही जाता है।

ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ ९५-९६

नियमसार गाथा ८२

पंचरत्न संबंधी विगत गाथाओं की चर्चा के उपरान्त अब ८२वीं गाथा में परमार्थप्रतिक्रमणादि के बारे में चर्चा करने का संकल्प व्यक्त करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि।।८२।।

(हरिगीत)

इस भेद के अभ्यास से मध्यस्थ हो चारित्र हो।
चारित्र दृढता के लिए प्रतिक्रमण की चर्चा करूँ।।८२।।

इसप्रकार का भेदाभ्यास (परपदार्थों से भिन्नता का अभ्यास) होने पर जीव मध्यस्थ होता है और उससे चारित्र होता है। उस चारित्र को दृढ करने के लिए अब मैं प्रतिक्रमणादि की चर्चा करूँगा।

इस गाथा के भाव को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भेदविज्ञान से क्रमश: निश्चयचारित्र होता है ह्न यहाँ ऐसा कहा है। पूर्वोक्त पंचरत्नों से शोभित अर्थपरिज्ञान से होनेवाले पंचमगति की प्राप्ति का हेतुभूत जीव और कर्मपुद्गलों का भेदाभ्यास होने पर उसी में स्थित रहनेवाले मुमुक्षु मध्यस्थ हो जाते हैं। इसी मध्यस्थता के कारण परम संयमियों के वास्तविक चारित्र होता है।

उक्त चारित्र में अविचलरूप से स्थिति रहे, इसलिए यहाँ प्रतिक्रमणादि की निश्चयक्रिया कही जा रही है।

भूतकाल के दोषों का परिहार करने के लिए जो प्रायश्चित्त किया जाता है; वह प्रतिक्रमण है। आदि शब्द में प्रत्याख्यानादि का समावेश भी संभव होता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और टीका के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा ज्ञाता शुद्धजीव हैं, तथा परपदार्थ अपने से पर हैं ह्न ऐसा

भेदाभ्यास करके अपने शुद्धस्वभाव में एकाग्र होना मोक्षगति का हेतु है। इसतरह जो मोक्षाभिलाषी जीव आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान में लीन रहते हैं, वे भेदाभ्यास से मध्यस्थ रहते हैं। दृष्टि तो अखण्ड स्वभाव पर ही है, परन्तु स्वभाव में जितनी स्थिरता होती जाती है, उतना राग और भेद का आश्रय छूटता जाता है। मुझे राग टालना है और मोक्ष करना है ह्न ऐसा विकल्प भी नहीं होता।[१]

इसप्रकार संसारपर्याय और मोक्षपर्याय के प्रति मध्यस्थ होने के कारण परमसंयमी मुनियों की वास्तविक वीतरागीदशा होती है। सहज स्थिरता बढ़ने पर भेद का भी लक्ष छूट जाता है।[२]

अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से वीतरागीदशा प्रगट होने पर भूतकाल के दोषों से हटना प्रतिक्रमण कहा जाता है। वर्तमानकाल में शुभाशुभभाव में नहीं जुड़कर स्वभाव में ठहरना आलोचना और संवर है।

यहाँ आदि शब्द से प्रत्याख्यानादि समझना चाहिए। अपने शुद्धस्वभाव में ठहरने पर भविष्य का राग उत्पन्न ही न होने देना प्रत्याख्यान है। इसप्रकार एक वीतरागीदशा ही मोक्ष का कारण है, और जितने विकल्प हैं, वे सब बंध के कारण हैं।[३]''

गाथा, टीका और स्वामीजी के स्पष्टीकरण का सार यह है कि पंचरत्न संबंधी विगत पाँच गाथाओं में नर-नारकादि पर्यायों; मार्गणा, गुणस्थान और जीवस्थान आदि भावों; बालकादि अवस्थाओं और क्रोधादि कषायों से भगवान आत्मा का जो भेदविज्ञान कराया गया है; उससे माध्यस्थ भाव प्रगट होता है। उक्त माध्यस्थभाव से निश्चयचारित्र प्रगट होता है और निश्चयचारित्र के धारक सन्तों के जीवन में निश्चय प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान प्रगट होते हैं।

प्रायश्चित्तपूर्वक भूतकाल के दोषों का परिमार्जन करना प्रतिक्रमण है, वर्तमान दोषों का परिमार्जन आलोचना है और भविष्य में कोई दोष न हो ह्न इसप्रकार का संकल्प करना प्रत्याख्यान है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६५२ २. वही, पृष्ठ ६५२ ३. वही, पृष्ठ ६५२-६५३

तात्पर्य यह है कि जीवन को संयमित करने के लिए, संयमित जीवन में दृढता लाने के लिए; प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। अत: यहाँ प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाते हैं।।८२।।

इसके उपरान्त टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव **तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है ह्न** कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।३७।।[१]

(रोला)

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे।
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की।।
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं।।३७।।

आजतक जो कोई भी सिद्ध हुए हैं; वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं; वे सब उस भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं।

भेदविज्ञान की महिमा इससे अधिक और क्या बताई जा सकती है कि आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, वे सब भेदविज्ञान से गये हैं और जो जीव कर्मों से बँधे हैं, संसार में अनादि से अनन्त दु:ख उठा रहे हैं; वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही उठा रहे हैं।।३७।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोह:।
शमजलनिधिपूरक्षालितांह:कलंक:
स खलु समयसारस्यास्य भेद: क एष: ।।११०।।

१. समयसार, कलश १३१

(रोला)

इसप्रकार की थिति में मुनिवर भेदज्ञान से।
पापपंक को धोकर समतारूपी जल से।।
ज्ञानरूप होने से आतम मोहमुक्त हो।
शोभित होता समयसार की कैसी महिमा।।११०।।

ऐसा होने पर जब मुनिराज को अत्यन्त भेदविज्ञान परिणाम होता है, तब यह समयसाररूप भगवान आत्मा स्वयं उपयोगरूप होने से मोह से मुक्त होता हुआ उपशमरूपी जलनिधि के ज्वार से पापरूपी कलंक को धोकर शोभायमान होता है। यह समयसार का कैसा भेद (रहस्य) है?

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं ह्न

''इसप्रकार अन्तर में एकाग्रता होने से अस्थिरता से छूट जाता है और उपशमरस से पाप को धो डालता है। जैसे समुद्र में तूफान आवे, तब उस पानी के पूर से किनारे पर स्थित मैल धुल जाता है, वैसे ही शुद्ध चैतन्य में अन्तर-एकाग्रता करने पर पुण्य-पापरूपी मैल धुल जाता है। 'राग, पुण्य अथवा एक समय की पर्याय वह मैं नहीं, मैं तो आत्मा ज्ञायक शुद्ध हूँ' ह्न ऐसा अन्तरभान होने पर जो शक्ति अन्तर में थी, वह प्रगट हुई। उपशमरस से परिपूर्ण आत्मा की पर्याय में शान्ति का प्रवाह आया, उसके कारण सारा पाप-कलंक धुल गया।

इसप्रकार उपशमरस से पूर्ण आत्मा पर्याय में भी उपशमरस से विराजता है। अत्यन्त भेदभाव होना, स्वयं उपयोगस्वरूप होना, मुक्त-मोह होना, उपशमता का प्रवाह होना, पाप-कलंक धुल जाना, इत्यादि समझाने में तो क्रम पड़ता है; परन्तु ये सब हैं तो एक ही समय में ही।[१]''

इस कलश में यही कहा गया है कि प्रतिक्रमणादि में संलग्न भावलिंगी संतों का आत्मा स्वयं उपयोगस्वरूप होनेसे भेदज्ञान के बल से मोहमुक्त होता हुआ उपशमरूपी सागर के ज्वार से पुण्य-पापरूप कर्मकलंक धोकर अत्यन्त पवित्र भाव से शोभित होता है। यह समयसाररूप भगवान आत्मा का अद्भुत माहात्म्य है।।११०।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६५६

नियमसार गाथा ८३

अब इस गाथा में निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं।।८३।।

(हरिगीत)

वचन रचना छोड़कर रागादि का कर परिहरण।
ध्याते सदा जो आतमा होता उन्हीं को प्रतिक्रमण।।८३।।

वचन रचना को छोड़कर, रागादिभावों का निवारण करके जो आत्मा का ध्यान करता है, उसे प्रतिक्रमण होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुमुक्षुजनों द्वारा प्रतिदिन बोले जानेवाला समस्त पापक्षय का हेतुभूत जो वचनात्मक प्रतिक्रमण है; यहाँ उसका निराकरण करते हैं।

परमतप का कारणभूत जो सहज वैराग्य है, उस वैराग्यरूप अमृत के समुद्र में ज्वार लाने के लिए, उछालने के लिए पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान जो जीव हैं; उनके अप्रशस्त वचन रचना से मुक्त होने पर भी जब वे प्रतिक्रमण सूत्र की विषम (विविध) वचन रचना को छोड़कर, संसाररूपी बेल की जड़ जो मोह-राग-द्वेष हैं, उनका भी निवारण करके अखण्डानन्दमय निज कारण परमात्मा को ध्याते हैं; तब परमतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान के सन्मुख उन जीवों को वचन संबंधी सम्पूर्ण व्यापार रहित निश्चय प्रतिक्रमण होता है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज प्रातः व सायं प्रतिक्रमण करते हैं। मुनि जब अपने शुद्धस्वभाव में स्थिर नहीं रह सकते, तब वे प्रतिक्रमण की विधि का पाठ बोलते हैं; उस परिणाम में अशुभ का नाश होता है, वह शुभभावरूप

व्यवहार प्रतिक्रमण है। उसका यहाँ खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि **वचनरचना और शुभभाव के ऊपर का लक्ष छोड़ देना, परमार्थ-प्रतिक्रमण है। जो मुनिराज अपने कारण परमात्मा को ध्याते हैं, उनको निश्चयप्रतिक्रमण होता है।**[१]

ऐसे वैराग्यवन्त मुनि अशुभभाव से छूटे हुए हैं। स्वभाव में जबतक पूर्णरूपेण स्थिर नहीं रह पाते, तबतक शुभभाव होते हैं और शास्त्रकार ने जो प्रतिक्रमण की विधि कही है तथा विविध वचनरचना की है, उसके ऊपर लक्ष जाता है और उसे सविनय पढ़ते हैं। शब्दोच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखते हुए पठित सूत्रों पर शुभराग के समय लक्ष जाता है, उस लक्ष को भी छोड़कर जब मुनि अपने शुद्धस्वभाव में एकाग्र होते हैं; तब संसार की मूलग्रन्थि का अर्थात् समस्त राग-द्वेष का नाश करते हैं।[२]

मुनि संसार का मूल राग-द्वेष-मोह का निवारण करके अपने अखण्ड आनन्दमय निजकारणपरमात्मा में एकाग्र होते हैं, उनको यथार्थ प्रतिक्रमण होता है और वीतरागीदशा प्रकट होती है।[३]''

अशुभ वार्तालाप से विरक्त होकर जिनागम उल्लिखित प्रतिक्रमण पाठ को बोलकर जो प्रतिक्रमण मुनिराजों द्वारा किया जाता है; उसे व्यवहार प्रतिक्रमण कहते हैं। उसमें भूतकाल में हुए दोषों का उल्लेख करते हुए प्रायश्चित्त पूर्वक उनका परिमार्जन किया जाता है। यह व्यवहार प्रतिक्रमण शुभभाव रूप होता है, शुभ वचनात्मक होता है। इसमें अशुभभाव और अशुभवचनों की निवृत्ति तो होती है; शुभभाव और शुभवचन से निवृत्ति नहीं होती; किन्तु परमार्थ प्रतिक्रमण में, निश्चय प्रतिक्रमण में शुभवचन और शुभभावों से भी निवृत्ति हो जाती है।

यह परमार्थ प्रतिक्रमण अखण्डानन्दमय निजकारणपरमात्मा के ध्यानरूप होता है। ध्यान रहे इस अधिकार का नाम ही परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार है। यही कारण है कि यहाँ परमार्थ प्रतिक्रमण पर विशेष जोर दिया जा रहा है।।८३।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६५८
२. वही, पृष्ठ ६५८-६५९
३. वही, पृष्ठ ६५९

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति का एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै–
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा–
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।३८ ।।[१]

(हरिगीत)

क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से।
बस एक ही है बात यह परमार्थ का अनुभव करो ।।
क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो इस समय के सार से ।।३८।।

अधिक कहने से क्या लाभ है, अधिक दुर्विकल्प करने से भी क्या लाभ है? यहाँ तो मात्र इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस एक परमार्थस्वरूप आत्मा का ही नित्य अनुभव करो। निजरस के प्रसार से परिपूर्ण ज्ञान के स्फुरायमान होनेरूप समयसार से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है।।३८।।

इसके उपरान्त टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

अतितीव्रमोहसंभवपूर्वार्जितं तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्तेऽहमात्मना तस्मिन् ।।१११ ।।

(दोहा)

तीव्र मोहवश जीव जो किये अशुभतम कृत्य।
उनका कर प्रतिक्रमण मैं रहूँ आतम में नित्य ।।१११।।

अत्यन्त तीव्रमोह की उत्पत्ति से जो कर्म पहले उपार्जित किये थे; उनका प्रतिक्रमण करके मैं सम्यग्ज्ञानमयी आत्मा में नित्य वर्तता हूँ।

तात्पर्य यह है कि तीव्र मोहवश किये गये कर्मों से विरत होकर अपने निज भगवान आत्मा में अपनेपन पूर्वक स्थिर होना ही परमार्थप्रतिक्रमण है।।१११।। ●

१. समयसार, कलश २४४

नियमसार गाथा ८४

अब आगामी गाथा में यह कहते हैं कि आत्मा की आराधना ही प्रतिक्रमण है। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ।।८४।।

(हरिगीत)

विराधना को छोड़ जो आराधना में नित रहे।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है।।८४।।

जो जीव विशेषरूप से विराधना छोड़कर आराधना में वर्तता है, वह जीव ही प्रतिक्रमण है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय ही है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आत्मा की आराधना में वर्तते हुए जीव को ही प्रतिक्रमण कहा गया है। जो परमतत्त्वज्ञानी जीव निरंतर धारावाहीरूप से आत्माभिमुख होकर परिणामों द्वारा साक्षात् स्वभाव में स्थित होकर आत्माराधना में रत रहते हैं; वे निरपराध हैं। जो जीव आत्माराधना रहित हैं, वे अपराधी हैं। इसीलिए सम्पूर्णतया विराधना छोड़कर ह्न ऐसा कहा है।

जो परिणाम राध अर्थात् आराधना रहित हैं, वे परिणाम ही विराधना हैं। विराधना रहित जीव ही निश्चयप्रतिक्रमणमय है; इसीलिए उसे प्रतिक्रमणस्वरूप कहा है।

यह बात समयसार में कही है ह्न

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधिय च एयट्ठं।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ।।३९।।[१]

(हरिगीत)

साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है।
बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है।।३९।।

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ह्न यह सब एकार्थवाची

१. समयसार, गाथा ३०४

हैं। जो आत्मा अपगतराध अर्थात् राध से रहित है, वह आत्मा अपराध है।''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आत्मा की आराधना में वर्तते हुए जीव को ही प्रतिक्रमण कहा है। जो परमतत्त्वज्ञानी जीव निरन्तर अपने स्वभाव में एकाग्र रहते हैं, वे निरपराध हैं। उन्हें यहाँ परमतत्त्वज्ञानी कहा है।

जो आत्मसन्मुख रहते हैं और राग-द्वेष को पर समझकर निरन्तर अपने स्वभाव की एकाग्रता में रहकर उस परिणाम की सन्तति को टूटने नहीं देते; **एक समय भी स्वभाव की मुख्यता न छूटे और पुण्य-पाप की मुख्यता न हो ह्न ऐसी जिनकी दशा है, वे जीव निरपराध हैं।**

सम्यग्दृष्टि जीव को पुण्य-पाप के परिणाम और संयोग होने पर भी स्वभाव की मुख्यता वर्तती है, इसलिये वे निरपराध हैं।

यहाँ तो दृष्टि-उपरान्त विशेषपने स्थिरता करके स्वभाव की आराधना करनेवाले मुनि को ही प्रतिक्रमण है ह्न ऐसा कहा है।[१]

जो परिणाम आराधनारहित है, वह विराधना है। अपने शुद्धस्वभाव की आराधना करना, **निरपराधभाव** है और पुण्य-पाप की आराधना करना, **अपराधभाव** है। चैतन्यस्वभाव की प्रसन्नता **निरपराध** है और निमित्त तथा पुण्य की प्रसन्नता **अपराध** है। चैतन्यस्वभाव की कृपा **निरपराध** है और निमित्त व पुण्य की कृपा से कल्याण मानना, **अपराध** है। चैतन्य से सिद्धि मानना, **निरपराध** है और पुण्य से सिद्धि मानना, **अपराध** है। ज्ञानस्वभाव से पूर्णता मानना, **निरपराध** है और पुण्य या अपूर्णता से लाभ मानना, **अपराध** है। आत्मा के आधार से आत्मा सिद्ध करना, **निरपराध** है और राग से आत्मा सिद्ध करना, **अपराध** है।

इसप्रकार विराधनारहित जीव निश्चय प्रतिक्रमणमय है। जो आत्मा अपने स्वभाव में एकाग्रता करता है, वह प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है। वहाँ प्रतिक्रमण करनेवाला और प्रतिक्रमण की विधि ह्न ऐसे भेद नहीं रहते।[२]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६६५ २. वही, पृष्ठ ६६९

स्वयं ज्ञानस्वभावी आत्मा है ह्न ऐसा सम्यक् प्रकार से सिद्ध करना **संसिद्धि** है; अपने स्वरूप का सेवन करना **राध** है; अपने स्वभाव का निश्चय करना **सिद्धि** है; स्वभाव को साधना **साधित** है और स्वभाव का विशेष सेवन करना **आराधित** है ह्न ये सभी शब्द एकार्थ हैं।

जो आत्मा आत्मा की आराधना से रहित है, वह अपराध है। अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से धर्म नहीं मानकर, पुण्य और निमित्त से धर्म माने तो निश्चय का नाश होता है; वह अपराध है।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में यही कहा गया है कि अभेदरूप से देखने पर प्रतिक्रमणमय होने से प्रतिक्रमण करनेवाला आत्मा ही प्रतिक्रमण है। तात्पर्य यह है कि **आत्मा की आराधना ही प्रतिक्रमण है और आत्मा की विराधना ही अप्रतिक्रमण है॥८४॥**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **उक्तं हि समयसार व्याख्यायां च ह्न** समयसार की व्याख्या आत्मख्याति टीका में भी कहा है ह्न कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी॥४०॥[२]

(हरिगीत)

जो सापराधी निरन्तर वे कर्मबंधन कर रहे।
जो निरपराधी वे कभी भी कर्मबंधन ना करें॥
अशुद्ध जाने आतमा को सापराधी जन सदा।
शुद्धात्मसेवी निरपराधी शान्ति सेवें सर्वदा॥४०॥

अपराधी आत्मा अनन्त पौद्गलिक कर्मों से बंधन को प्राप्त होता है और निरपराधी आत्मा बंधन को कभी स्पर्श भी नहीं करता। अज्ञानी आत्मा तो नियम से स्वयं को अशुद्ध जानता हुआ, अशुद्ध मानता हुआ और अशुद्ध भावरूप परिणमित होता हुआ सदा अपराधी ही है; किन्तु

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६७० २. समयसार, कलश १८७

निरपराधी आत्मा तो सदा शुद्धात्मा का सेवन करनेवाला ही होता है ।।४०।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा
नियतमिह भवार्तः सापराधः स्मृतः सः ।
अनवरतमखंडाद्वैतचिद्भावयुक्तो
भवति निरपराधः कर्मसंन्यासदक्षः ।।११२।।

(हरिगीत)

परमात्मा के ध्यान की संभावना से रहित जो।
संसार पीड़ित अज्ञजन वे सापराधी जीव हैं।।
अखण्ड अर अद्वैत चेतनभाव से संयुक्त जो।
निपुण हैं संन्यास में वे निरपराधी जीव हैं।।११२।।

इस लोक में जो जीव परमात्मध्यान की भावना से रहित हैं; परमात्म ध्यानरूप परिणमित नहीं हुए हैं; सांसारिक दु:खों से दु:खी उन जीवों को नियम से अपराधी माना गया है। किन्तु जो जीव अखण्ड-अद्वैत चैतन्य भाव से निरंतर युक्त हैं; कर्मों से संन्यास लेने में निपुण वे जीव निरपराधी हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''एकतरफ चैतन्यस्वरूप आत्मा विराजता है और दूसरी तरफ सारा जगत है। चैतन्यस्वरूप को अपना माने, वह जीव निरपराध है और पर तथा विकार को अपना माने, वह जीव अपराधी है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि सांसारिक दु:खों से दु:खी अज्ञानी जीव अपने शुद्ध त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान की भावना से रहित होने से, आत्मा की आराधना से रहित होने से अपराधी हैं और **ज्ञानादि अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड निज भगवान आत्मा की आराधना करनेवाले, उसे जाननेवाले, उसका श्रद्धान करनेवाले और उसके ही ध्यान में मग्न रहनेवाले जीव निरपराधी हैं।।११२।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६७२

नियमसार गाथा ८५

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि निश्चयचारित्र के धारक सन्तों को ही निश्चयप्रतिक्रमण होता है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८५।।

(हरिगीत)

जो जीव छोड़ अनाचरण आचार में थिरता धरे।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उसे।।८५।।

जो जीव अनाचार छोड़कर आचार में स्थिरता करता है, वह जीव प्रतिक्रमण कहा जाता है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ निश्चयचारित्रात्मक परमोपेक्षा संयम धारण करनेवाले को निश्चयप्रतिक्रमण होता है ह्न ऐसा कहा है।

परमोपेक्षा संयम धारण करनेवाले के लिए अथवा उसकी अपेक्षा शुद्ध आत्मा की आराधना के अतिरिक्त सभी कार्य अनाचार हैं। इसप्रकार के सभी अनाचार छोड़कर सहज चिद्विलास लक्षण निरंजन निज परमात्मतत्त्व की भावनास्वरूप आचरण में जो परमतपोधन सहज वैराग्यभावनारूप से परिणमित होता हुआ स्थिरभाव को धारण करता है; वह परमतपोधन ही प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है; क्योंकि वह परमसमरसी भावनारूप से परिणमित होता हुआ सहज निश्चय-प्रतिक्रमणमय है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अशुभभाव से बचने को शुभभाव आवे, वह बात भिन्न है; परन्तु है वह अनाचार ही। शुद्ध स्वभाव में रमणता करना - यह एक ही

आचार है। **अतिक्रम**–आत्मा से दूर वसना, **व्यतिक्रम**–विशेष दूर वसना, **अतिचार**–निर्बलता का दोष, अस्थिरता का दोष और **अनाचार** ह्न ऐसे चार भेद हैं; वे सब अनाचार के भेद हैं। **मुनि की स्वभाव में न ठहर सकनेवाली निर्बलता भी अनाचार में जाती है।**[१]

यहाँ मुनि की बात है। दृष्टि अपेक्षा से अनाचार छोड़ने के उपरान्त, अस्थिरता का अनाचार अर्थात् पुण्य-पाप की अस्थिरता को छोड़कर मुनि अपने स्वभाव में स्थिर होते हैं ह्न उन्हें प्रतिक्रमणस्वरूप कहते हैं।[२]

निज परमात्म तत्त्व की भावना भाना ही आचार है, शेष सभी अनाचार हैं। आत्मा के स्वभाव में सहज स्थिर होनेवाला ही तपोधन है।[३]

प्रथम स्वलक्षपूर्वक सत्समागम से वस्तुस्वरूप सुनना चाहिए, क्योंकि सुने बिना लक्ष्य स्वतरफ नहीं होता, लक्ष्य बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्दर्शन बिना चारित्र नहीं, चारित्र बिना प्रतिक्रमण नहीं, प्रतिक्रमण बिना वीतरागता और शान्ति नहीं और वीतरागता बिना केवलज्ञान व मुक्ति नहीं हो सकती; इसलिए सर्वप्रथम यथार्थ वस्तुस्वरूप समझना चाहिए।

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है ह्न यह मूल प्रयोजनभूत बात स्वीकार किए बिना जीव मिथ्यात्व से विमुख नहीं होता।[४]''

इस गाथा और उसकी टीका में मूल रूप से यही कहा गया है कि **परमोपेक्षा संयम को धारण करनेवाले के लिए तो एकमात्र निज शुद्धात्मा की आराधना ही संयम है, सदाचार है; इससे सभी शुभाशुभभाव और शुभाशुभ क्रियायें अनाचार ही हैं, कदाचार ही हैं, हेय ही हैं।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि सहज वैराग्यभावना से सम्पन्न और समरसीभाव से परिणमित सन्त स्वयं निश्चयप्रतिक्रमण हैं, प्रतिक्रमण रूप हैं।।८५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६८५
२. वही, पृष्ठ ६८६
३. वही, पृष्ठ ६८७
४. वही, पृष्ठ ६८८

(मालिनी)

अथ निजपरमानन्दैकपीयूषसान्द्रं
स्फुरितसहजबोधात्मानमात्मानमात्मा।
निजशममयवार्भिर्निर्भरानंदभक्त्या
स्नपयतु बहुभिः किं लौकिकालापजालैः।।११३।।

(हरिगीत)

रे स्वयं से उत्पन्न परमानन्द के पीयूष से।
रे भरा है जो लबालब ज्ञायकस्वभावी आतमा।।
अब उसे शम जल से नहाओ प्रशम भक्तिपूर्वक।
सोचो जरा क्या लाभ है इस व्यर्थ के आलाप से।।११३।।

हे आत्मन्! अब अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुए परमानन्दरूपी अमृत से भरे हुए स्फुरित सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा को निर्भरानन्द भक्ति पूर्वक स्वयं से उत्पन्न समतारूपी जल द्वारा स्नान कराओ; अन्य बहुत से आलापजालों से क्या लाभ है, अन्य लौकिक वचन विकल्पों से क्या लाभ है ?

इस कलश के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा निज परम आनन्दरूपी अजोड़ अमृत से भरा हुआ है। शरीर, कर्म आदि परवस्तु हैं, आत्मा में उनका अभाव है। पुण्य-पाप के भाव आकुलता हैं, उनसे रहित आत्मा अमृतकुण्ड से भरा है।

पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख है और दया-दान से कल्याण होगा ह्न ऐसी मान्यता मिथ्यात्वरूपी महान पाप है। पुण्य-पाप के भावों में सुख नहीं, उन सबसे रहित आत्मा आनन्दकन्द है ह्न ऐसी प्रथम ही पहिचान करनी चाहिए। इस पहिचान के बिना अपने ज्ञानस्वभाव से विपरीत मान्यता वह मिथ्यात्व है। द्यूतकर्म, मांस-भक्षण, सुरा-पान, वेश्या-गमन आदि जो सप्तव्यसन कहे हैं, उनसे अनन्तगुना पाप मिथ्यात्व में है; अतः इस जीव को सर्वप्रथम इस महान पाप का त्याग करना चाहिए।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६८९

महान पाप को न त्यागे और अन्य पापों से बचने का उपाय करे तो कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होगा।[१]

आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरा है ह्न ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करना ही सच्ची भक्ति है। इसप्रकार पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर तथा शरीर का स्वामीपना छोड़कर आत्मा आनन्दकन्द है ह्न ऐसी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करने पर अपनी पर्याय में शान्ति प्रकट होती है। उस शान्ति के भक्तियुक्त वीतरागभावरूप जल से भगवान आत्मा को स्नान कराओ कि जिससे मिथ्यात्व और अव्रत के परिणाम उत्पन्न ही न हों।

ज्ञान और आनन्दशक्ति अन्दर भरी है, उसमें एकाग्र होने से प्रतिक्रमण होता है। भाषा अथवा रागादि बाह्य लौकिक आलापजालों से प्रयोजन नहीं सधता।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि शुभभावपूर्वक शुभ वचनों रूप व्यवहारप्रतिक्रमण से कोई विशेष लाभ होनेवाला नहीं है; इसलिए आत्म-श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक आत्मध्यान में मग्न होनेरूप परमार्थप्रतिक्रमण रूप ही परिणमन करो। एकमात्र यही करने योग्य कार्य है, इससे ही यह आत्मा परमात्मपद को प्राप्त करेगा।।११३।।

दूसरा कलश इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

मुक्त्वानाचारमुच्चैर्जननमृतकरं सर्वदोषप्रसंगं
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरूपमसहजानंददृग्ज्ञप्तिशक्तौ।
बाह्याचारप्रमुक्तः शमजलनिधिवार्बिन्दुसंदोहपूतः
सोऽयं पुण्यः पुराणः क्षपितमलकलिर्भाति लोकोद्धसाक्षी।।११४।।

(रोला)

जन्म-मरण के जनक सर्व दोषों को तजकर।
अनुपम सहजानन्दज्ञानदर्शनवीरजमय।।
आतम में थित होकर समताजल समूह से
कर कलिमलक्षय जीव जगत के साक्षी होते।।११४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६९०-६९१

जन्म-मरण के जनक सर्व दोषों से युक्त अनाचार को सम्पूर्णतः छोड़कर, अनुपम सहज आनन्द-दर्शन-ज्ञान-वीर्यवाले अपने आत्मा में स्वयं स्थित होकर, सम्पूर्ण बाह्याचार से मुक्त होता हुआ समतारूपी समुद्र के जलबिन्दुओं के समूह से पवित्र वह सनातन पवित्र आत्मा, मलरूपी क्लेश का क्षय करके लोक का उत्कृष्ट साक्षी होता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जन्म-मरण के कारणरूप अनाचार छोड़कर धर्मी जीव अनन्त-चतुष्टयरूप आत्मा में स्थिर होकर वीतरागी शमरस से पवित्र होता है।

धर्मीजीव समझते हैं कि हम तो वीतराग के भक्त हैं, **अपने स्वभाव को चूककर पुण्य-पाप के साथ हमें मैत्री नहीं करना है; इसलिए वे अपनी शुद्धदृष्टि छोड़कर पुण्य-पाप के साथ लाभ मानने की बुद्धि का सेवन नहीं करते।** ऐसे अनाचार को पूर्णतः छोड़कर वे अपने शुद्धात्मा में स्थित होते हैं।[१]

यहाँ तो दृष्टि उपरान्त स्थिरता की बात है। जो अपने शान्तस्वभाव में लीन है ह्न ऐसा पवित्र पुराण आत्मा रागरूपी क्लेश का क्षय करके, वीतरागता प्रगट करके, केवलज्ञान प्रगट करता है, वही लोक का उत्कृष्ट साक्षी होता है।[२]''

उक्त कलश में सबकुछ मिलाकर मात्र इतना ही कहा गया है कि यह भगवान आत्मा जन्म-मरणरूप भव-भ्रमण करानेवाले सम्पूर्ण दोषों से युक्त अनाचार को पूर्णतः छोड़कर अपने आत्मा में स्थिर होकर सम्पूर्ण बाह्याचार अर्थात् बाह्यप्रतिक्रमण को छोड़कर अन्तर में लीनतारूप परमार्थप्रतिक्रमण करता हुआ जगत का साक्षीरूप परिणमित होता है। यही कारण है कि यह कहा गया है कि यह भगवान आत्मा स्वयं प्रतिक्रमण है, प्रतिक्रमणमय है।।११४।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६९३ २. वही, पृष्ठ ६९४

नियमसार गाथा ८६

अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि जो उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में स्थिर होता है, वह स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप ही है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८६।।

(हरिगीत)

छोड़कर उन्मार्ग जो जिनमार्ग में थिरता धरे।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उसे।।८६।।

जो जीव उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में स्थिरभाव करता है, वह जीव ही प्रतिक्रमण कहा जाता है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ उन्मार्ग के त्याग और सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रणीत जिनमार्ग की स्वीकृति का निरूपण है।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा[१] और अन्यदृष्टि संस्तव[२] रूप मलकलंकरूपी कीचड़ से रहित जो शुद्धनिश्चयसम्यग्दृष्टि जीव; बुद्धादिप्रणीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मार्गाभासरूप उन्मार्ग को छोड़कर; व्यवहार से महादेवाधिदेव, परमेश्वर, सर्वज्ञ-वीतरागप्रणीत मार्ग में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक इत्यादि अट्ठाईस मूलगुणस्वरूप व्यवहारमार्ग में स्थिर परिणाम करता है और शुद्धनिश्चयनय से सहज-ज्ञानादि शुद्ध गुणों से अलंकृत सहज परमचैतन्यसामान्य तथा चैतन्यविशेष जिसका प्रकाश है ह्न ऐसे निजात्मद्रव्य में शुद्धचारित्रमय स्थिरभाव

१. मन में मिथ्यादृष्टि की महिमा होना अन्यदृष्टि प्रशंसा है।
२. वचनों में मिथ्यादृष्टि की महिमा करना अन्यदृष्टि संस्तव है।

करता है; वह मुनि निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है; क्योंकि उसे परमतत्त्वगत निश्चय-प्रतिक्रमण है; इसलिए वह तपोधन सदा शुद्ध है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''वीतराग-सर्वज्ञकथित मार्ग के अतिरिक्त सब मार्ग उन्मार्ग हैं। उन उन्मार्गों को त्याग कर जो सर्वज्ञ के कहे हुए आत्मा के स्वरूप में ठहरते हैं, वे प्रतिक्रमणस्वरूप हैं।[१]

पहले तो सम्यग्दर्शन के उपरान्त शुभ की बात की थी; अब यहाँ शुभरहित शुद्ध की बात करते हैं। **अट्ठाईस मूलगुण का पालन, वह शुभराग है; उससे रहित होकर जो मुनिराज शुद्धभाव में ठहरते हैं, उन्हें निश्चयचारित्र होता है और प्रतिक्रमण भी होता है।** सम्यग्दर्शन बिना इनमें से एक भी नहीं होता।

धर्मी जीव को आत्मा के सच्चे भानसहित विपरीत मान्यता का त्याग, वह मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है और स्वभाव में लीनता करने पर अव्रत का त्याग, वह अव्रत का प्रतिक्रमण है। प्रथम के बिना द्वितीय नहीं हो सकता। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार से अट्ठाईस मूलगुणात्मक मार्ग में और निश्चय से दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरभाव करते हैं, अतः वे मुनि निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहे जाते हैं।[२]

प्रथम वस्तुस्वरूप की पहचान करना चाहिए; उसके उपदेशक आप्तपुरुष की पहिचान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता, चारित्र के बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। अतः जैसा है, वैसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।[३]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६९६
२. वही, पृष्ठ ७००
३. वही, पृष्ठ ७०१

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि उन्मार्ग को छोड़कर वीतरागी-सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत जिनमार्ग को धारण करना ही प्रतिक्रमण है।

तात्पर्य यह है कि शंका-कांक्षा आदि दोषों से रहित निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव जब जिनेन्द्रकथित महाव्रतादि धारण करनेरूप व्यवहार-मार्ग और अपने भगवान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और रमणतारूप निश्चयमार्ग को धारण करता है, तब मुनिदशा को प्राप्त वह निश्चय सम्यग्दृष्टि स्वयं ही प्रतिक्रमणस्वरूप होता है।।८६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **तथा चोक्तं प्रवचनसार व्याख्यायां ह्न** तथा प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में भी कहा है ह्न ऐसा कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडितम्)

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वी: पृथग्भूमिका:।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यति: सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम्।।४१।।[१]

(मनहरण कवित्त)

उतसर्ग और अपवाद के विभेद द्वारा।
भिन्न-भिन्न भूमिका में व्याप्त जो चरित्र है।।
पुराणपुरुषों के द्वारा सादर है सेवित जो।
उसे प्राप्त कर संत हुए जो पवित्र हैं।।
चित्सामान्य और चैतन्यविशेष रूप।
जिसका प्रकाश ऐसे निज आत्मद्रव्य में।।
क्रमशः पर से पूर्णतः निवृत्ति करके।
सभी ओर से सदा वास करो निज में।।४१।।

हे मुनिवरो! इसप्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषों के द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा पृथक्-पृथक् अनेक भूमिकाओं में व्याप्त चारित्र को प्राप्त करके, क्रमश: अतुलनिवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और

१. प्रवचनसार, कलश १५

चैतन्यविशेषरूप से प्रकाशित निजद्रव्य में चारों ओर से स्थिति करो।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इसप्रकार अपने स्वरूप में सावधानी रखनेवाले पुरुषों ने उत्सर्ग तथा अपवाद मार्ग द्वारा चारित्र का सेवन किया है।

अपने शुद्धस्वभाव में निर्विकल्परूप से ठहर जाना उत्सर्गमार्ग है और जब उस रूप से ठहर न सके; तब अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करे, उपदेश दे, उपदेश सुने, शास्त्र रचना करे ह्न यह सब अपवादमार्ग है।[१]

इसप्रकार का चारित्र उत्सर्ग और अपवाद मार्ग द्वारा प्राप्त करके, क्रमशः अट्ठाईस मूलगुण के पालन आदि के शुभराग से अत्यन्त निवृत्त होकर चैतन्यसामान्य और विशेषरूप प्रकाशवाले अपने आत्मा में निर्विकल्पपने स्थिति करो। स्वरूप में ऐसे ठहर जाओ कि फिर अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प उत्पन्न ही न हो ह्न इसप्रकार शुभराग का निषेध कराया।[२]''

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की मैत्रीवाले इस मुक्तिमार्ग को पुराणपुरुषों ने विशेष आदरपूर्वक अपनाकर मुक्ति प्राप्त की है; इसलिए हे मुनिजनो ! तुम भी उन्हीं के समान जगत से पूर्ण निवृत्ति लेकर सामान्य-विशेषात्मक निजद्रव्य में स्थिति करो, लीन हो जाओ। एकमात्र इसमें ही सार है, शेष सब असार संसार है।।४१।।

इसके बाद एक छन्द मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

विषयसुखविरक्ता: शुद्धतत्त्वानुरक्ता:
तपसि निरतचित्ता: शास्त्रसंघातमत्ता:।
गुणमणिगणयुक्ता: सर्वसंकल्पमुक्ता:
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते।।११५।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७०२ २. वही, पृष्ठ ७०२

(हरिगीत)

जो मुक्त सब संकल्प शुध निजतत्त्व में अनुरक्त हों।
तप मग्न जिनका चित्त नित स्वाध्याय में जो मत्त हों॥
धन्य हैं जो सन्त गुणमणि युक्त विषय विरक्त हों।
वे मुक्तिरूपी सुन्दरी के परम वल्लभ क्यों न हों॥११५॥

जो मुनिराज विषयसुख से विरक्त हैं, शुद्धतत्त्व में अनुरक्त हैं, तप में जिनका चित्त लवलीन है, शास्त्रों में जो मत्त (मस्त) हैं, गुणरूपी मणियों के समूह से युक्त हैं और सर्वसंकल्पों से मुक्त हैं; वे मुक्तिसुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे ? होंगे ही होंगे, अवश्य होंगे।

इस कलश में वीतरागी सन्तों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वीतरागी सन्त पाँच इन्द्रियों के विषय सेवन से पूर्णत: विरक्त रहते हैं, उनके चित्त में पंचेन्द्रिय विषयों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे तो उन्हें मधुर विष के समान मानते हैं। वे मुनिराज शुद्धात्मतत्त्व में लीन रहते हैं, उनका चित्त आत्मध्यानरूप तप में लगा रहता है। गुणरूपी मणियों से आकण्ठपूरित वे मुनिराज शास्त्रों के ही पठन-पाठन, अध्ययन में मस्त रहते हैं। सभीप्रकार के संकल्प-विकल्पों से मुक्त वे मुनिराज मुक्तिरूपी सुन्दरी के अत्यन्त प्रिय क्यों न होंगे ?

तात्पर्य यह है कि उक्त गुणों से युक्त सन्तों का संसार-बंधन से मुक्त होना और मुक्त अवस्था को प्राप्त होना दूर नहीं है, अत्यन्त निकट ही है॥११५॥ ●

असफलता के समान सफलता का पचा पाना भी हर एक का काम नहीं है। जहाँ असफलता व्यक्ति को, समाज को हताश, निराश, उदास कर देती है, उत्साह को भंग कर देती है; वहीं सफलता भी संतुलन को कायम नहीं रहने देती। वह अहंकार पुष्ट करती है, विजय के प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती है। कभी-कभी तो विपक्ष का तिरस्कार करने को भी उकसाती नजर आती है।

पर सफलता-असफलता की ये सब प्रतिक्रियाएँ जनसामान्य पर ही होती हैं, गंभीर व्यक्तित्व वाले महापुरुषों पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। वे दोनों ही स्थितियों में संतुलित रहते हैं, अडिग रहते हैं। **ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ २३३**

नियमसार गाथा ८७

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि माया, मिथ्यात्व और निदान ह्न इन शल्यों से रहित मुनिराज स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप ही हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥८७॥

(हरिगीत)

छोड़कर त्रिशल्य जो नि:शल्य होकर परिणमे।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है॥८७॥

जो साधु शल्यभाव को छोड़कर नि:शल्यभाव से परिणमित होता है, उस साधु को प्रतिक्रमण कहा जाता है; क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ नि:शल्यभाव से परिणमित महातपोधन को ही निश्चय-प्रतिक्रमणस्वरूप कहा है।

नि:शल्यस्वरूप परमात्मा के यद्यपि व्यवहारनय के बल से कर्मरूपी कीचड़ के साथ संबंध होने से मिथ्यात्व, माया और निदान नामक शल्य वर्तते हैं ह्न ऐसा उपचार से कहा जाता है; तथापि ऐसा होने से ही जो परमयोगी तीन शल्यों का परिहार करके परमनि:शल्यस्वरूप में रहता है; उसे निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है; क्योंकि उसे स्वरूपगत वास्तविक प्रतिक्रमण तो है ही।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पर का मैं कर सकता हूँ, शुभराग से धर्म होता है ह्न ऐसी विपरीत मान्यता मिथ्यात्वशल्य है, कार्य का फल भोगूँ ह्न यह निदानशल्य है, कपट सेवन करना माया शल्य है। इसप्रकार तीन भाँति की शल्यों को

छोड़कर मुनि अपने स्वभाव में ज्ञानदशारूप परिणमते हैं, अतः वे प्रतिक्रमणमय हैं। यहाँ मैं प्रतिक्रमण करनेवाला और यह प्रतिक्रमण की पर्याय ह्न ऐसा कर्त्ता-कर्म का भेद नहीं, अभेदस्वभाव में ठहर गया है; इसलिए प्रतिक्रमणमय है ह्न ऐसा कहा है।[१]

शल्य का परित्याग करने जाय तो शल्य का परित्याग नहीं होता, किन्तु 'आत्मा चिदानन्द ध्रुवस्वरूप है' ह्न ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करने पर मिथ्यात्वशल्य उत्पन्न ही नहीं होती और अन्तर स्थिरता करने पर अस्थिरतारूप माया और वाँछा उत्पन्न नहीं होती, इसलिए उन्होंने तीनों शल्यों का परित्याग किया ह्न ऐसा कथन करने में आता है। इसप्रकार तीन शल्यों को त्याग कर, जो परमयोगी परमनिःशल्यस्वरूप आत्मा में निश्चल होते हैं, उन्हें निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है।[२]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मिथ्यात्व, माया और निदान ह्न इन तीन शल्यों को छोड़कर जो ज्ञानी धर्मात्मा या मुनिराज परमनि:शल्यस्वभाव में ही ठहरते हैं, नि:शल्यभावरूप परिणमित होते हैं; वे स्वयं ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप हैं; क्योंकि उन्हें स्वरूपगत परमार्थप्रतिक्रमण तो है ही।।८७।।

इस गाथा की टीका के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

शल्यत्रयं परित्यज्य नि:शल्ये परमात्मनि।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम् ।।११६ ।।

(दोहा)

शल्य रहित परमात्म में तीन शल्य को छोड़।
स्थित रह शुद्धात्म को भावैं पंडित लोग।।११६।।

तीन शल्यों को छोड़कर, नि:शल्य परमात्मा में स्थिर रहकर, विद्वानों को शुद्धात्मा को सदा स्फुटरूप से भाना चाहिए।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७०५-७०९ २. वही, पृष्ठ ७०९

इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि ज्ञानी धर्मात्मा विद्वानों और वीतरागी सन्तों को तो निरन्तर शुद्धात्म भावनारूप ही परिणमित होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी धर्मात्मा विद्वान और सन्त तो निरन्तर शुद्धात्मभावनारूप ही परिणमित होते हैं।।११६।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशराग्निदग्धं मुहुः।
स्वभावनियतं सुखं विधिवशादनासादितं
भज त्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः ।।११७ ।।

(कुण्डलिया)

अरे कषायों से रंगा भव का हेतु अजोड़।
कामबाण की आग से दग्ध चित्त को छोड़।।
दग्ध चित्त को छोड़ भाग्यवश जो न प्राप्त है।
ऐसा सुख जो निज आतम में सदा व्याप्त है।।
निजस्वभाव में नियत आत्मरस माँहि पगा है।
उसे भजो जो नाँहि कषायों माँहि रंगा है।।११७।।

भवभ्रमण के कारण, कामबाण की अग्नि से दग्ध एवं कायक्लेश से रंगे हुए चित्त को हे यतिजनो ! तुम पूर्णत: छोड़ दो और भाग्यवश अप्राप्त, निर्मल स्वभावनियत सुख को तुम संसार के प्रबल डर से भजो।

इस कलश में यतिजनों को संबोधित करते हुए कहा गया है कि कामबाण की अग्नि से दग्ध अर्थात् कामवासना में संलिप्त और कायक्लेश से रंजित अर्थात् शारीरिक क्रियाकाण्ड में उलझे हुए स्वयं के चित्त को दूर से ही छोड़ देना चाहिए; क्योंकि इसप्रकार की वृत्ति संसार परिभ्रमण का कारण है। **तात्पर्य यह है कि कामवासनारूप अशुभभाव और क्रिया-काण्ड में संलग्न शुभभावरूप अशुद्धभाव सांसारिक बंधन के कारण हैं। इनसे बचना चाहिए। तथा दुर्भाग्यवश जो अबतक अप्राप्त रहा है, ऐसा जो निर्मल स्वभावजन्य सुख है, प्रबल संसार के भय से भयभीत हो, उसे भजना चाहिए, उसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।।११७।।** ●

नियमसार गाथा ८८

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि त्रिगुप्तिधारी साधु ही प्रतिक्रमण हैं; क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८८।।

(हरिगीत)

तज अगुप्तिभाव जो नित गुप्त गुप्ती में रहें।
प्रतिक्रमणमय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उन्हें।।८८।।

जो साधु अगुप्तिभाव को छोड़कर त्रिगुप्ति में गुप्त रहते हैं; वे साधु प्रतिक्रमण कहे जाते हैं; क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय ही हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिगुप्तिगुप्त लक्षणवाले परमतपोधन सन्तों को निश्चयचारित्र होने का यह कथन है।

परमतपश्चरणरूपी सरोवर के कमलसमूह को खिलाने के लिए जो प्रचंड सूर्य समान हैं; ऐसे अति आसन्नभव्य मुनीश्वर; बाह्य प्रपंचरूप अगुप्तिभाव छोड़कर, त्रिगुप्तिरूप निर्विकल्प परमसमाधिलक्षण से लक्षित अति-अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं, वे मुनिराज प्रतिक्रमणमय परमसंयमी होने से निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप ही हैं।''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मन-वचन-काय के लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभभाव अगुप्तभाव हैं। पाँच महाव्रत के भाव अगुप्तभाव हैं, उनको छोड़कर शुद्धचैतन्य में आना, वह गुप्तिभाव है, धर्मभाव है। स्वभाव में से बाहर निकलना, वह संसारभाव हैं। जो अपने स्वभाव में गुप्त रहता है ह्न ऐसे परमतपरूपी लक्ष्मी के स्वामी मुनि को निश्चयचारित्र होने का कथन है।[१]

प्रतिक्रमण के पाठ बोलने को अथवा शुभराग को प्रतिक्रमण माननेवाला तो मिथ्यात्व का ही सेवन करनेवाला है। **शब्द तो जड़ हैं**

और शुभराग आस्रव हैं; उनसे भिन्न चैतन्यस्वभाव ध्रुव ज्ञायकवस्तु है, उसका श्रद्धान-ज्ञान करके, मिथ्यात्व और शुभाशुभराग से विमुख होकर अन्तर्मुख एकाग्र होना ह्न वह समाधिस्वरूप प्रतिक्रमण है।[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि तीन गुप्तियों के धनी, निर्विकल्प समाधि में समाधिस्थ, आत्मध्यानी महामुनिराज परमसंयमी होने से प्रतिक्रमणस्वरूप ही हैं। तात्पर्य यह है कि **वास्तविक प्रतिक्रमण आत्मध्यानी सन्तों के ही होता है।।८८।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनि:
सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुंजमयीमिमाम्।
भजतु परमां भव्य: शुद्धात्मभावनया समं
भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत्।।११८।।

(हरिगीत)

सद्ज्ञानमय शुद्धात्मा पर है न कोई आवरण।
त्रिगुप्तिधारी मुनिवरों का परम निर्मल आचरण।।
मन-वचन-तन की विकृति को छोड़कर हे भव्यजन!
शुद्धात्मा की भावना से परम गुप्ती को भजो।।११८।।

हे आसन्नभव्य मुनिजन ! मन-वचन-काय की विकृति को छोड़कर सम्यग्ज्ञानमयी सहज परम गुप्ति को शुद्धात्मा की भावना सहित उत्कृष्टरूप को भजो; क्योंकि त्रिगुप्तिधारी ऐसे मुनिराजों का चारित्र निर्मल होता है।

इस कलश में मात्र यही कहा गया है कि हे आसन्नभव्य मुनिजनो ! मन-वचन-काय के माध्यम से व्यक्त होनेवाली विकृतियों को छोड़कर सम्यग्ज्ञानमयी सहज परम गुप्ति को शुद्धात्मा की भावना में एकाग्र होकर उत्कृष्टरूप से भजो; क्योंकि **तीन गुप्तियों के धारी संतों का चरित्र अत्यंत निर्मल होता है। इसलिए वे स्वयं प्रतिक्रमण हैं, प्रतिक्रमणमय हैं।।११८।।**●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७१३ २. वही, पृष्ठ ७१५

नियमसार गाथा ८९

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही प्रतिक्रमण है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु।।८९।।

(हरिगीत)

तज आर्त एवं रौद्र ध्यावे धरम एवं शुकल को।
परमार्थ से वह प्रतिक्रमण यह कहा जिनवर सूत्र में।।८९।।

जो जीव आर्त और रौद्र ह्न इन दो ध्यानों को छोड़कर धर्म या शुक्ल ह्न ध्यान को ध्याता है; वह जीव जिनवरकथित सूत्रों में प्रतिक्रमण कहा जाता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह ध्यान के भेदों के स्वरूप का कथन है।

स्वदेश के त्याग से, द्रव्य के नाश से, मित्रजनों के विदेश जाने से एवं कमनीय कामिनी के वियोग से इष्टवियोगज और अनिष्टसंयोगों से उत्पन्न होनेवाला अनिष्टसंयोगज नामक आर्तध्यान तथा चोर-जार, शत्रुजनों के बध-बंधन संबंधी महाद्वेष से उत्पन्न होनेवाला रौद्रध्यान ह्न ये आर्त और रौद्र ह्न दोनों ध्यान स्वर्ग और मोक्ष के अपरिमित सुख से प्रतिपक्ष संसार दु:ख के मूल कारण होने के कारण, उन दोनों ध्यानों को पूर्णत: छोड़कर; स्वर्ग और मोक्ष के असीम सुख के मूल ह्न ऐसे जो स्वात्माश्रित निश्चय परमधर्मध्यान तथा ध्यान और ध्येय के विकल्पों से रहित, अन्तर्मुखाकार, इन्द्रियातीत और अभेद परमकला सहित निश्चय शुक्लध्यान ह्न इन धर्म और शुक्ल ध्यानों को ध्याकर जो भव्योत्तम परमभाव की भावनारूप से परिणमित होता है; वह निश्चय

प्रतिक्रमणस्वरूप है। ह्न ऐसा जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल में से निकले द्रव्यश्रुत में कहा है।

उक्त चार ध्यानों में आरंभ के आर्त और रौद्र ह्न ये दो ध्यान हेय हैं, धर्मध्यान नामक तीसरा ध्यान उपादेय है और शुक्लध्यान नामक चौथा ध्यान सर्वदा उपादेय है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

आर्त और रौद्र ह्न दोनों ध्यान संसार दु:ख के मूल हैं, स्वर्ग और मोक्ष के अपरिमित सुख के प्रतिपक्षी हैं। इन ध्यानों से मोक्ष का सुख तो मिलता ही नहीं, किन्तु स्वर्ग का सुख भी नहीं मिलता।

रौद्रध्यान पंचम गुणस्थान तक तथा आर्तध्यान छठवें गुणस्थान तक पाया जाता है। यह जितना भी है, वह सब बंध का कारण है, संसार दु:ख का मूल है; अत: सर्वथा त्याज्य ही है।[१]

अपना आत्मा ज्ञायकस्वभावी है, पुण्य-पापरहित है। ऐसे अपने आत्मा के आश्रय से जो वीतरागी ध्यान प्रगट होता है, वह धर्मध्यान है। जितनी एकाग्रता है, वह शान्ति और मोक्ष का कारण है और जितना राग (व्रत का अथवा देव-गुरु-शास्त्र का) वर्त्तता है, उससे पुण्य बंधता है तथा उसके फल में स्वर्ग का सुख मिलता है।[२]

पंचेन्द्रिय के लक्ष से भिन्न होकर शुद्ध चैतन्य स्वभाव की तरफ लक्ष करने पर निर्भेद परमकलासहित निश्चय शुक्लध्यान होता है।

इसप्रकार धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याकर जो भव्यपुरुष पारिणामिकभावनारूप से परिणमा है, **जिसको निमित्त की अथवा निमित्त के अभाव की अपेक्षा नहीं ह्न ऐसे स्वभावभाव में एकाग्रतारूप जिसका परिणमन है, वह निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है।** इसप्रकार देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवान के मुखकमल में से निर्गत द्रव्यश्रुत में कहा है।

यहाँ इस काल में शुक्लध्यान नहीं है, धर्मध्यान है। साधकजीव

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७२० २. वही, पृष्ठ ७२०

एकावतारी होकर स्वर्ग में जावेगा, तथापि भान है कि निर्बलता के कारण अग्रिमभव धारण करना पड़ेगा। पुरुषार्थ में जितनी कचास रह गई, उसके कारण स्वर्ग मिला। राग का फल स्वर्ग है ह्न ऐसा ज्ञानी जानता है। धर्मी जीव राग का स्वामी नहीं होता, वह तो उसका अभाव करके मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त करेगा।[१]

चार ध्यानों में से प्रथम के दो ध्यान ह्न आर्त व रौद्र छोड़ने योग्य हैं; उनमें विकार की एकाग्रता है, जबकि धर्म और शुक्लध्यान में स्वभाव की एकाग्रता है। **धर्मध्यान प्रथम भूमिका में उपादेय है और शुक्लध्यान सर्वदा उपादेय है। शुक्लध्यान भी यद्यपि पर्याय है, तथापि विकार का नाश करके मोक्ष प्रगट कराता है; अतः सर्वदा उपादेय कहा है, पर्याय अपेक्षा से उपादेय कहा है।**

वास्तव में देखा जावे तो धर्मी जीव को एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। दृष्टि तो किसी भेद या विकार को स्वीकारती ही नहीं, किन्तु धर्मध्यान और शुक्लध्यान की पर्यायें भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं हैं, कारण कि वे दोनों ध्यान यद्यपि वीतरागी हैं, परन्तु हैं तो एकसमय की पर्याय ही।

पर्याय के ऊपर लक्ष जाने से भेद पड़ता है और राग होता है, इसलिए अभेद द्रव्यस्वभाव की दृष्टि कराने के लिए शुक्लध्यान की पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। भूतार्थ त्रिकाली स्वभाव में वह नहीं है, अतः दृष्टि के विषय में तो शुद्धस्वभाव एक ही उपादेय है। परन्तु यहाँ तो ध्यान के भेदों का ज्ञान कराना है, इसलिए आर्त और रौद्रध्यान से भिन्न करने के लिए वीतरागी पर्यायस्वरूप धर्मध्यान और शुक्लध्यान को उपादेय कहा है। शुक्लध्यान मोक्ष का निश्चित कारण है, इसलिए सर्वदा उपादेय कहा है ह्न ऐसी अपेक्षा समझना।[२]''

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि टीकाकार मुनिराज ने आर्तध्यान में

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७२१ २. वही, पृष्ठ ७२२

इष्टवियोगज और अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान की चर्चा तो की, पर वेदना-जन्य और निदान नामक आर्तध्यान की चर्चा नहीं की। इसीप्रकार रौद्रध्यान के भेदों की भी चर्चा न करके मात्र इतना ही कह दिया कि द्वेषभाव से उत्पन्न होनेवाला रौद्रध्यान।

अरे भाई ! यह कोई बात नहीं है; क्योंकि **यहाँ ध्यानों के भेद-प्रभेदों की चर्चा करना इष्ट नहीं है। यदि होता तो फिर धर्मध्यान और शुक्लध्यानों के भेदों की भी चर्चा होती। यहाँ तो मात्र यह बताना अभीष्ट है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही प्रतिक्रमणस्वरूप हैं, उपादेय हैं।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि आरंभ के आर्त और रौद्र ह्न ये दो ध्यान नरकादि अशुभ गतियों के कारण हैं, दुःखरूप हैं; अतः हेय हैं, छोड़ने योग्य हैं और धर्मध्यान उपादेय है तथा शुक्लध्यान परम उपादेय है। ये उपादेय ध्यान ही प्रतिक्रमणरूप हैं; इस कारण इनके धारकों को गाथा में अभेदनय से प्रतिक्रमणस्वरूप ही कहा है।।८९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **तथा चोक्तम् ह्न** तथा कहा भी है ह्न लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(अनुष्टुभ्)

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम्।
अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदुः ।।४२।।

(रोला)

अरे इन्द्रियों से अतीत अन्तर्मुख निष्क्रिय।
ध्यान-ध्येय के जल्पजाल से पार ध्यान जो।
अरे विकल्पातीत आतमा की अनुभूति।
ही है शुक्लध्यान योगिजन ऐसा कहते।।४२।।

जो ध्यान निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है, ध्यान और ध्येय के विकल्पों से रहित है और अन्तर्मुख है; उस ध्यान को योगीजन शुक्लध्यान कहते हैं।

उक्त कलश में शुक्लध्यान को योगियों की साक्षीपूर्वक राग और

भेद की क्रिया से रहित, इन्द्रियों से अतीत, ध्यान और ध्येय के विकल्पों से रहित तथा अन्तर्मुख कहा है।।४२।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज दो छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार हैं ह्न

(वसंततिलका)

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग–
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम्।।११९।।

सद्बोधमंडनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात्।
नास्त्येष सर्वनयजातगतप्रपंचो
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता।।१२०।।

(रोला)

सदा प्रगट कल्याणरूप परमात्मतत्त्व में।
ध्यानावलि है कभी कहे न परमशुद्धनय।।
ऐसा तो व्यवहारमार्ग में ही कहते हैं।
हे जिनवर यह तो सब अद्भुत इन्द्रजाल है।।११९।।
ज्ञानतत्त्व का आभूषण परमात्मतत्त्व यह।
अरे विकल्पों के समूह से सदा मुक्त है।।
नय समूहगत यह प्रपंच न आत्मतत्त्व में।
तब ध्यानावलि कैसे आई कहो जिनेश्वर।।१२०।।

प्रगटरूप सदा कल्याणस्वरूप परमात्मतत्त्व में ध्यानावली (ध्यान परंपरा–ध्यानपंक्ति) का होना भी शुद्धनय नहीं कहता; क्योंकि ध्यानावली आत्मा में है ह्न ऐसा तो हमेशा व्यवहार मार्ग में ही कहा जाता है।

हे जिनेन्द्रदेव ! आपके द्वारा कहा गया यह वस्तुस्वरूप अहो महा (बहुत बड़ा) इन्द्रजाल जैसा ही लगता है।

सम्यग्ज्ञान का आभूषण यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्पसमूहों से सर्वत: मुक्त है। सर्वनयसमूह संबंधी यह प्रपंच परमात्मतत्त्व में नहीं है तो फिर यह ध्यानावली इसमें किसप्रकार उत्पन्न हुई ? कृपा कर यह बताइये।

उक्त छन्दों का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''हे जिनेन्द्र! नयों द्वारा कथित वस्तुस्वरूप इन्द्रजाल महान है। 'कथंचित् है' और 'कथंचित् नहीं है' ह्न ऐसी आपकी कथनशैली अद्भुत है। नयों के विषय समझना कठिन है। ध्यान व्यवहार से तो है और निश्चय से नहीं है। अहो ! यह बात आश्चर्यजनक है। आपके द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप समझना कठिन है।[१]

ऐसा परमात्मतत्त्व सब विकल्पों से मुक्त है। राग के भेद, व्यवहार के भेद स्वभाव में नहीं है। यह निश्चयनय है और यह व्यवहारनय है ह्न ऐसे नयों के भेद वस्तुस्वरूप में नहीं हैं। परमात्मतत्त्व एकरूप अभेद है तो फिर वह ध्यानावली इस परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है, सो कहो? ध्यान की परम्परा तो नवीन पर्याय है और व्यवहारनय का विषय है। जब नयों के भेद ही वस्तु में नहीं हैं तो फिर व्यवहारनय की विषय ध्यानावली वस्तुस्वभाव में किसप्रकार हो सकती है? अर्थात् स्वभाव में वह ध्यानावली नहीं है।[२]''

इन छन्दों में यह कहा गया है कि जब ध्यान के ध्येयरूप परमात्मतत्त्व में ध्यानावली ह्न ध्यान की श्रेणी है ही नहीं ह्न ऐसा शुद्धनय कहता है; तब यह ध्यानावली उक्त परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है ?

यद्यपि यह सत्य है कि व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि ध्यानावली आत्मा में है; तथापि परमार्थ तो यही है कि ध्येयतत्त्व में ध्यानावली का होना संभव नहीं है।।११९–१२०।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७२६
२. वही, पृष्ठ ७२९

नियमसार गाथा ९०

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि इस जीव ने मिथ्यात्वादि भावों को तो अनादि से भाया है; पर सम्यक्त्वादि भावों को आजतक नहीं भाया। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण।।९०।।

(हरिगीत)

मिथ्यात्व आदिक भाव तो भाये सुचिर इस जीव ने।
सम्यक्त्व आदिक भाव पर भाये नहीं इस जीव ने।।९०।।

मिथ्यात्व आदि भाव तो इस जीव ने बहुत लम्बे काल से भाये हैं; परन्तु सम्यक्त्वादि भावों को कभी नहीं भाया।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह आसन्नभव्य (निकटभव्य) और अनासन्नभव्य (जिसका मोक्ष दूर है ह्न ऐसे भव्य) जीवों के पूर्वापर परिणामों के स्वरूप का कथन है।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योगरूप परिणाम सामान्य प्रत्यय (आस्रवभाव) हैं। उनके तेरह भेद हैं; क्योंकि **मिच्छादिट्ठी आदि जाव सजोगिस्स चरमंते ह्न** ऐसा शास्त्र का वचन है और इसका अर्थ ऐसा है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय तक ह्न कुल मिलाकर तेरह विशेष प्रत्यय हैं।

निरंजन निज परमात्मतत्त्व के श्रद्धान रहित दूरभव्य जीव ने सामान्य प्रत्ययों को सुचिरकाल तक भाया है; किन्तु परमनैष्कर्मचारित्र से रहित उक्त स्वरूपशून्य बहिरात्मा ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नहीं भाया। इस मिथ्यादृष्टि जीव के विपरीत गुणसमुदायवाला अति आसन्नभव्य जीव होता है।''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ज्ञानस्वभाव की रुचि न करके पुण्य और निमित्त की रुचि करने

को **मिथ्यात्व** कहते हैं। आसक्ति के भावों को **अव्रत** कहते हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणामों को **कषाय** कहते हैं। आत्मा के प्रदेशों के कम्पन को **योग** कहते हैं। ह्न इसप्रकार ये चार सामान्य आस्रव हैं और इनके तेरह भेदरूप गुणस्थान हैं। **चौदहवें गुणस्थान में आस्रव नहीं होता, इसलिये तेरहवें गुणस्थान तक आस्रव कहा है।**[१]

द्रव्यलिंगी मुनि नवमें ग्रैवेयक तक जाता है, उसने भी मिथ्यात्व आदि आस्रव की भावना का सेवन किया है; किन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया; इसलिये वास्तविक चारित्रदशा भी प्राप्त नहीं हुई। जिसने सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागतारूपी चारित्र प्राप्त नहीं किया ह्न ऐसे स्वरूपशून्य बहिर्दृष्टिजीव ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कभी भाया नहीं।

इस मिथ्यादृष्टि से विपरीत गुणसमुदायवाले शुद्धात्मा का श्रद्धान और ज्ञान करने वाला जीव अति आसन्नभव्य है, उसकी मुक्ति समीप है।[२]''

उक्त गाथा में मात्र यही कहा गया है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ह्न सामान्यरूप से उक्त चार प्रत्यय ही बंध के कारण हैं, आस्रवभाव हैं। ये भाव पहले गुणस्थान से लेकर, तेरहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं। यही कारण है कि आरंभ के तेरह गुणस्थानों को विशेष प्रत्यय कहा गया है।

दूरभव्य जीवों ने अनादिकाल से उक्त सामान्य-विशेष प्रत्ययों अर्थात् आस्रवभावों की ही भावना भायी है; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मुक्तिमार्ग की भावना ही नहीं भायी।

इसके विपरीत जीव यानि इन सम्यग्दर्शनादि की भावना भानेवाला जीव आसन्नभव्य होता है।।९०।।

इस अतिनिकटभव्य जीव को सम्यग्ज्ञान की भावना कैसी होती है? इसप्रकार के प्रश्न के उत्तर में टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव, **तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभि: ह्न** तथा गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७२२ २. वही, पृष्ठ ७२२

(अनुष्टुभ्)

भावयामि भवावर्ते भावना: प्रागभाविता: ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावना: ।।४३ ।।[१]

(दोहा)

पहले कभी न भायी जो भवावर्त्त के माँहि।
भवाभाव के लिए अब मैं भाता हूँ ताहि।।४३।।

इस संसार के भँवरजाल में उलझा हुआ मैं; भव का अभाव करने के लिए, अब पहले कभी न भायी गई भावना को भाता हूँ।

उक्त छन्द में तो मात्र यही कहा गया है कि इस संसार सागर से पार उतारनेवाली सम्यग्दर्शनादि की भावना मैंने आजतक नहीं भायी; क्योंकि अबतक तो मैं इस संसार के भंवरजाल में उलझा रहा हूँ।

अब मुझे कुछ समझ आई है; इसलिए अब मैं भव का अभाव करने के लिए, संसार सागर से पार उतरने के लिए उक्त सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म की भावना भाता हूँ।।४३।।

इसके बाद टीकाकार एक छंद स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(मालिनी)

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृते: कारणं यत् ।
तदपि भवभवेषु श्रूयते बाह्यते वा
न च न च बत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम् ।।१२१ ।।

(हरिगीत)

संसार सागर में मगन इस आत्मघाती जीव ने।
रे मात्र कहने के धर्म की वार्ता भव-भव सुनी।।
धारण किया पर खेद है कि अरे रे इस जीव ने।
ज्ञायकस्वभावी आत्मा की बात भी न कभी सुनी।।१२१।।

जो मोक्ष का थोड़ा-बहुत कथनमात्र कारण है; उस व्यवहाररत्नत्रय

१. आत्मानुशासन, श्लोक २३८

को तो इस संसार समुद्र में डूबे जीव ने अनेक भवों में सुना है और धारण भी किया है; किन्तु **अरे रे ! खेद है कि जो हमेशा एक ज्ञानरूप ही है, ऐसे परमात्मतत्त्व को कभी सुना ही नहीं है और न कभी तदनुसार आचरण ही किया है।**

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा, पाँच महाव्रत अथवा द्वादश व्रत के परिणाम आदि अनेक प्रकार के व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम कथनमात्र मोक्ष के कारण हैं, उन परिणामों से मोक्षदशा प्रकट नहीं होती, उनको मात्र उपचार से मोक्ष का कारण कहा गया है।[१]

ऐसे व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम को भवसागर में डूबे हुए जीवों ने पहले अनेक भवों में सुना है और प्रयोग भी किया है। चैतन्यस्वभाव में डुबकी मारने के बदले पुण्य-पाप और देह की क्रिया में डुबकी मारी है। चैतन्यस्वभाव की रुचि छोड़कर पुण्य-पाप की रुचि करके लाभ माना और भवसागर में डूबा।[२]

अहो! ज्ञान ही जिसका सर्वस्व है ह्न ऐसे परमात्मतत्त्व की बात जीव ने सुनी नहीं, और उसका आचरण भी नहीं किया। यह परमात्मतत्त्व ही चैतन्यज्योतिस्वरूप है, ज्ञान ही उसका सर्वस्व है।[३]''

इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि यद्यपि व्यवहाररत्नत्रय को मुक्ति का कारण व्यवहारनय से कहा गया है; तथापि वह कथनमात्र कारण है; क्योंकि शुभरागरूप और शुभक्रियारूप होने से वह पुण्यबंध का ही कारण है, मोक्ष का कारण नहीं। संसारसमुद्र में डूबे हुए जीवों ने उक्त व्यवहार धर्म की चर्चा तो अनेक बार सुनी है, उसका यथाशक्ति पालन भी किया है; किन्तु **ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा की बात कभी नहीं सुनी और तदनुसार आचरण भी कभी नहीं हुआ।** प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन को उक्त तथ्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।।१२१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७२५ २. वही, पृष्ठ ७२६ ३. वही, पृष्ठ ७२७

नियमसार गाथा ९१

अब इस गाथा में कहते हैं कि रत्नत्रयरूप से परिणमित ज्ञानी जीव स्वयं ही प्रतिक्रमण है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं।।९१।।

(हरिगीत)

ज्ञानदर्शनचरण मिथ्या पूर्णत: परित्याग कर।
रतनत्रय भावे सदा वह स्वयं ही है प्रतिक्रमण॥९१॥

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को पूर्णत: छोड़कर जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भाता है, वह जीव स्वयं प्रतिक्रमण ही है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सम्पूर्णत: स्वीकार करने एवं मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का सम्पूर्णत: त्याग करने से परम मुमुक्षु को निश्चयप्रतिक्रमण होता है ह्न ऐसा कहा है।

भगवान अरिहंत परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्गाभास में मार्ग का श्रद्धान मिथ्यादर्शन है, उसी में कही गई अवस्तु में वस्तुबुद्धि मिथ्याज्ञान है और उस मार्ग का आचरण मिथ्याचारित्र है। इन तीनों को सम्पूर्णत: छोड़कर अथवा निजात्मा के श्रद्धान, ज्ञान एवं अनुष्ठान के रूप से विमुखता ही मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मिथ्या रत्नत्रय है; इसे भी पूर्णत: छोड़कर; त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द लक्षणवाला, निरंजन, निज परमपारिणामिकभावस्वरूप कारण परमात्मारूप आत्मा के स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण का रूप ही वस्तुत: निश्चयरत्नत्रय है। इसप्रकार भगवान परमात्मा के सुख का अभिलाषी जो परमपुरुषार्थ-परायण पुरुष शुद्धरत्नत्रयात्मक आत्मा को भाता है; उस परमतपोधन को ही शास्त्रों में निश्चयप्रतिक्रमण कहा है।''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्यस्वभाव को स्वीकार करके अर्थात् उसके आश्रय से प्रगट

होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपर्याय को सम्पूर्णरूपेण स्वीकार करने से और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को समस्त प्रकार से छोड़ने से मुनिजनों को निश्चयप्रतिक्रमण होता है ह्न ऐसा कहा है। **स्वभाव के स्वीकार में मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र छूट जाता है।**[१]

भगवान अरहन्तदेव ने जो मार्ग कहा है, उससे विपरीत मार्ग की श्रद्धा मिथ्यादर्शन है। सर्वज्ञ भगवान अनादि से जो मार्ग कहते आये हैं, उससे विपरीत मार्ग कहनेवाले भी अनादि से ही हैं, उनकी श्रद्धा मिथ्याश्रद्धा है; उस विपरीत मार्ग में कही हुई अवस्तु में वस्तुबुद्धि करना मिथ्याज्ञान है, और उससे विपरीतमार्ग का आचरण मिथ्याचारित्र है ह्न इन तीनों के त्याग से ही प्रतिक्रमण होता है।[२]''

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के त्यागी और निश्चयरत्नत्रय के धारक सन्त ही निश्चयप्रतिक्रमण हैं। यहाँ मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **अरिहंत भगवान द्वारा प्रतिपादित मार्ग से विपरीत मार्ग के श्रद्धान का नाम मिथ्यादर्शन है। अवस्तु में वस्तुपने की मान्यता मिथ्याज्ञान और अरहंत के विरोधियों द्वारा निरूपित चारित्र मिथ्याचारित्र है।** इन्हें छोड़कर अरहंतों द्वारा प्रतिपादित अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण निश्चयचारित्र है। ऐसे निश्चयरत्नत्रय के धारक श्रमण साक्षात् प्रतिक्रमण हैं।।९१।।

इसके उपरांत टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-
रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी।
शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं।
श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे।।१२२।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७३२ २. वही, पृष्ठ ७३३

(दोहा)

जानकार निजतत्त्व के तज विभाव व्यवहार।
आत्मज्ञान श्रद्धानमय धरें विमल आचार ।।१२२।।

व्यवहाररत्नत्रय और समस्त विभावभावों को छोड़कर निजात्मा का अनुभवी तत्त्वों का जानकार बुद्धिमान पुरुष; शुद्धात्मतत्त्व के ज्ञान, श्रद्धान एवं आचरणरूप परिणमित होता है।

इस छन्द के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ समस्त विभाव छोड़ने के लिये कहा है, उसमें व्यवहार-रत्नत्रय भी आ जाता है। जो बुद्धिमान निज परमतत्त्व के जाननेवाले हैं, वे समस्त विभाव के साथ व्यवहाररत्नत्रय को भी छोड़कर शुद्धात्मतत्त्व में ही नियत ऐसा ज्ञान, उसकी परमश्रद्धा और उसमें ही आचरण का आश्रय करते हैं। ह्न ऐसा प्रतिक्रमण धर्मात्मा को सदा चौबीस घन्टे होता है, प्रतिक्रमण सुबह-शाम ही होता हो ह्न ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसने चैतन्यस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता की, उसको सदा प्रतिक्रमण है, उसे प्रतिक्रमण में एक समय का भी विरह नहीं होता। त्रिकालशुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा में दर्शन-ज्ञान और एकाग्रता ही निश्चयध्यान है, वही निश्चयप्रतिक्रमण है, वही निश्चय-सामायिक है। **निजतत्त्व के अवलम्बन में सामायिक, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि सब समा जाते हैं।**

मुनि को निद्रावस्था में भी चैतन्य के आश्रय से जितनी वीतरागी परिणति है, उतना प्रतिक्रमण है। उन्हें चैतन्य के आश्रय से जो परिणति जितनी प्रगट हुई है, उतना निश्चयप्रतिक्रमण सदा वर्तता है।[१]''

इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि क्रोधादि विभाव भावों के समान व्यवहाररत्नत्रय संबंधी शुभराग भी हेय है, छोड़ने योग्य है; क्योंकि उसे छोड़े बिना निश्चयप्रतिक्रमण संभव नहीं है।

उक्त विभाव भावों और व्यवहाररत्नत्रय संबंधी विकल्पों को छोड़कर **जो मुनिराज शुद्धात्मतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप परिणमित होते हैं; वे सन्त स्वयं ही प्रतिक्रमणस्वरूप हैं।।१२२।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७३८

नियमसार गाथा ९२

अब इस गाथा में कहते हैं कि आत्मध्यान ही प्रतिक्रमण है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ।।९२।।

(हरिगीत)

उत्तम पदारथ आतमा में लीन मुनिवर कर्म को।
घातते हैं इसलिए निज ध्यान ही है प्रतिक्रमण।।९२।।

आत्मा उत्तम पदार्थ है। उत्तम पदार्थरूप आत्मा में स्थित मुनिराज कर्मों का नाश करते हैं। इसलिए आत्मध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा गया है।

जिनेश्वर के मार्ग में मुनियों की सल्लेखना के समय ब्यालीस आचार्यों के द्वारा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण नामक प्रतिक्रमण दिये जाने के कारण होनेवाला देहत्याग व्यवहार से धर्म है।

निश्चयनय से नौ पदार्थों में उत्तम पदार्थ आत्मा है। सच्चिदानन्दमय कारणसमयसारस्वरूप आत्मा में जो तपोधन स्थित रहते हैं, वे सदा मरणभीरु होते हैं; इसीलिए वे कर्मों का नाश करते हैं।

इसलिए अध्यात्मभाषा में भेदसंबंधी और ध्यान-ध्येयसंबंधी विकल्पों से रहित, सम्पूर्णत: अन्तर्मुख, सभी इन्द्रियों से अगोचर निश्चय परमशुक्लध्यान ही निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ह्न ऐसा जानना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण; स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चय शुक्लध्यानमय होने से अमृतकुंभस्वरूप है और व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण व्यवहारध्यानमय होने से विषकुंभ स्वरूप है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्य के भान बिना आहारादि छोड़कर देहत्याग कर देना, परमार्थ से प्रतिक्रमण नहीं है; किन्तु उत्तमार्थ अपने आत्मा के आश्रय में रहना ही सच्चा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।[१]

अपना कल्याण तो अपने आत्मा के आश्रय से ही है, इसलिये हे जीव! तेरे लिये तो तेरा आत्मा ही उत्तमोत्तम पदार्थ है। ऐसे उत्तम पदार्थ का श्रद्धान-ज्ञान करके उसमें स्थिर रहनेवाले मुनिगण कर्मनाश करते हैं; अतः उन मुनियों को अपने उत्तम आत्मपदार्थ का ध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।[२]

बियालीस आचार्यों के पास जाकर आज्ञा माँगते हैं। यह तो उस उत्तम चौथे काल की बात है, आजकल तो बियालीस आचार्य हैं ही कहाँ? बियालीस आचार्य न हो तो कम से कम दो आचार्यों से पूछकर सल्लेखना करे ह्न ऐसी भी बात आती है। **बियालीस आचार्यों से पूछने में वास्तव में अपने परिणामों की दृढ़ता सूचित होती है अर्थात् सल्लेखना करने का भाव तबतक बराबर टिका रहता है; 'निःशंकपने मैं समाधिधारण करूँगा' ह्न ऐसा भाव दृढ़रूप से बना रहता है।**[३]

जिसको देह के संयोग से भिन्नता का भान नहीं है, उसे देह के वियोगकाल में घबड़ाहट हुए बिना रहेगी नहीं। **जिसे चैतन्य की नित्यता का भान है, देह के संयोगकाल में भी उसके वियोग का भान होने से देह से प्रीति नहीं है, वे ही नित्यमरणभीरु मुनि हैं।**[४]

मुनि कहते हैं कि हमने तो चैतन्य को अंगीकार किया है और इस देह के संयोग को तो छोड़ने बैठे ही हैं, अतः मरणकाल में देह का वियोग होना, हमारे लिये नवीन नहीं है ह्न इसप्रकार जिन्हें जीवन के समय ही मरण का भान है, संयोग के काल में ही उससे वियोग होने का

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७४०
२. वही, पृष्ठ ७४०
३. वही, पृष्ठ ७४०-७४१
४. वही, पृष्ठ ७४३-७४४

भान है ह्न ऐसे मुनियों को यहाँ 'नित्यमरणभीरु' कहा है। उन्हें शरीर के संयोग-वियोग में ठीक-अठीकपना भासित नहीं होता।[१]

मुनि 'नित्य मरणभीरु' हैं ह्न इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि उन्हें सदा मरण का भय है, बल्कि उसका अर्थ ऐसा है कि उन्हें सदा देह से भिन्नता का भान है। चैतन्य के भान में उनका एक-एक क्षण कर्म और शरीर के अभावपने ही परिणमन कर रहा है।[२]

व्यवहारधर्मध्यान भी राग है, अतः निश्चय से उसे भी विषकुम्भ कहा है।[३]''

इस गाथा और उसकी टीका में मुख्यरूप से यही कहा गया है कि मरणकाल उपस्थित होने पर आचार्यों की अनुमतिपूर्वक जो सल्लेखना ली जाती है, जिसमें आहारादि के क्रमशः त्यागादिरूप शुभक्रिया और तत्संबंधी शुभभाव होते हैं, वह व्यवहारप्रतिक्रमण है और सभी प्रकार के विकल्पों से अतीत होकर निज भगवान आत्मा का ध्यान करना निश्चयप्रतिक्रमण है। इनमें से व्यवहारप्रतिक्रमण शुभभाव और शुभक्रियारूप होने से पुण्यबंध का कारण है और निश्चयप्रतिक्रमण शुद्धभावरूप होने से बंध के अभाव का कारण है।

बंध का कारण होने से व्यवहारप्रतिक्रमण विषकुंभ है और बंध के अभाव का कारण होने से निश्चयप्रतिक्रमण अमृतकुंभ है।।९२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **तथा चोक्तं समयसारे तथा समयसार में भी कहा है ह्न** लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो।।४४।।[४]

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुंभ हैं।।४४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७४४-७४५
२. वही, पृष्ठ ७४५
३. वही, पृष्ठ ७४७
४. समयसार, गाथा ३०६

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ह्न ये आठ प्रकार के विषकुंभ हैं; क्योंकि इनमें कर्तृत्वबुद्धि संभवित है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''विकल्प टूटकर चैतन्य के अमृतस्वरूप में लीन होना ही अमृत है और उसमें राग का विकल्प उठना ही विष है; क्योंकि **राग चैतन्यानन्द को लूटनेवाला है। अज्ञानी की तो बात ही नहीं है। अरे! मुनि को चैतन्य का भान होने पर भी जो प्रायश्चित्त आदि का विकल्प आता है, उसको यहाँ निश्चय से विष कहा है। दोषरहित चैतन्यस्वभाव में लीनता ही अमृतमय प्रतिक्रमण है।** बीच में जो शुभराग आता है, उसे मुनिराज निश्चय से विष समझते हैं, अज्ञानी उस विकल्प को धर्म का कारण मानते हैं।[१]''

प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण के विषकुंभ और अमृतकुंभ के संदर्भ में विशेष जानकारी के लिए समयसार गाथा ३०६ व ३०७ एवं उनकी आत्मख्याति टीका व उसमें समागत कलशों का अध्ययन सूक्ष्मता से किया जाना चाहिए। उक्त प्रकरण संबंधी अनुशीलन का अध्ययन भी उपयोगी रहेगा।।४४।।

इसके बाद **तथा चोक्तं समयसारव्याख्यायाम् ह्न** तथा समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में कहा है ह्न लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः।।४५।।[२]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७४७-७४८
२. समयसार, श्लोक १८९

(रोला)

प्रतिक्रमण भी अरे जहाँ विष-जहर कहा हो।
अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को।।
अरे प्रमादी लोग अधोऽधः क्यों जाते हैं ?
इस प्रमाद को त्याग ऊर्ध्व में क्यों नहीं जाते ?।।४५।।

जहाँ प्रतिक्रमण को भी विष कहा हो; वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है, कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रमाददशारूप अप्रतिक्रमण अमृत नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी स्थिति होने पर भी लोग नीचे-नीचे ही गिरते हुए प्रमादी क्यों होते हैं; निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर ही क्यों नहीं चढ़ते ?

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो शास्त्र ब्रह्मचर्य के शुभभाव को भी धर्म न कहें, वे शादी आदि के अशुभभाव की आज्ञा तो दे ही कैसे सकते हैं? शुभ को भी जो विष कहे, वह अशुभ को तो अमृत कहाँ से कहेगा?[१]

जब हम निश्चय से शुभ को भी विष कहकर छोड़ने के लिए कहते हैं, तब हिंसादिक पापभाव तो आदर योग्य होंगे ही कैसे? शुभ को भी छोड़कर शुद्धस्वरूप में जाने के लिए ही हमने शुभ को विष कहा है। शुभ भी प्रमाद है, उसे छोड़कर अप्रमादी होकर शुद्धस्वरूप में लीन होने के लिए हम कहते हैं; अतः शुभाशुभ से रहित स्वभाव की दृष्टि करके उसमें लीनतापूर्वक शरीर छूटने को भगवान ने उत्तमार्थ-प्रतिक्रमण कहा है। जिसने ऐसी समाधिपूर्वक देहत्याग किया, उसे पुनः देह धारण करना नहीं पड़ता।[२]''

उक्त कथन का सार यह है कि अशुभभावरूप जो अप्रतिक्रमण है, पाप प्रवृत्ति करके भी पश्चात्ताप नहीं करने रूप जो वृत्ति है; वह तो महा जहर है और सर्वथा त्याज्य है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७४९ २. वही, पृष्ठ ७४९

प्रमादवश होनेवाले अपराधों के प्रति पश्चात्ताप के भाव होने रूप जो प्रतिक्रमणादि हैं; वे पाप की अपेक्षा व्यवहार से अमृतकुंभ हैं, कथंचित् करने योग्य हैं।

शुभाशुभभाव से रहित शुद्धोपयोगरूप जो निश्चयप्रतिक्रमण या अप्रतिक्रमणादि हैं, वे साक्षात् अमृतकुंभ हैं, सर्वथा ग्रहण करने योग्य हैं; मुक्ति के साक्षात् कारण हैं।।४५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपः कल्पनामात्ररम्यम्।
बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे।।१२३।।

(हरिगीत)

रे ध्यान-ध्येय विकल्प भी सब कल्पना में रम्य हैं।
इक आतमा के ध्यान बिन सब भाव भव के मूल हैं।।
यह जानकर शुध सहज परमानन्द अमृत बाढ में।
डुबकी लगाकर सन्तजन हों मगन परमानन्द में।।१२३।।

आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सभी भाव घोर संसार के मूल हैं, ध्येय-ध्यान के विकल्पों की प्रमुखता वाला शुभभाव और शुभक्रियारूप तप मात्र कल्पना में ही रमणीय लगता है।

ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष सहज परमानन्दरूपी अमृत की बाढ में डूबते हुए एकमात्र सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा भी ध्यान है; उसका ज्ञान भी ध्यान है, और उसमें एकाग्रता भी ध्यान है। **सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र ह्न यह तीनों ही ध्यान में समा जाते हैं। ध्यान कहो या मोक्ष का मार्ग कहो ह्न एक ही बात है।** शुद्धचैतन्य वस्तु के ध्यान के अलावा अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इस आत्मध्यान से अन्य जो कुछ भी है, वह सब घोर संसार का मूल है।[१]

ध्येय और ध्यान के भेदरूप जो व्यवहारतप अर्थात् व्यवहार मुनिपना है, वह भी कल्पनामात्र रम्य है, व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग भी कथनमात्र रम्य है। भेद के विकल्प का राग वास्तव में आत्मशान्ति का कारण नहीं है। चरणानुयोग में शुभरागरूप व्यवहारतप की बात आती है, वह कल्पनामात्र रम्य है। परमार्थ से तो शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय भी संसार का ही कारण है। ध्यान-ध्येय के भेदविकल्परहित शुद्धचैतन्य में एकाग्रतारूप ध्यान ही मुक्ति का कारण है।[२]''

उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि आत्मध्यान को छोड़कर धर्म के नाम पर चलनेवाला जो भी क्रियाकाण्ड है, जो भी शुभभाव हैं; वे सभी संसार के कारण हैं।

अधिक कहाँ तक कहे कि जब ध्यान-ध्येय संबंधी विकल्प भी रम्य नहीं है, करने योग्य नहीं है; तब अन्य विकल्पों की तो बात ही क्या करें?

अन्त में बुद्धिमान व्यक्ति की वृत्ति और प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए कहा गया है कि **बुद्धिमान व्यक्ति तो अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत के सागर में डुबकी लगाते हैं, एकमात्र निज आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान में ही लीन रहते हैं। यदि हमें अपना कल्याण करना है तो हमें भी स्वयं में समा जाना चाहिए।।१२३।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७५० २. वही, पृष्ठ ७५०-७५१

कौन किसका विरोधी है ? कोई किसी का शाश्वत विरोधी और मित्र नहीं होता। जो आज विरोधी लगता है, कल वही मित्र हो जाता है। जो मित्र है, उसे विरोधी होते क्या देर लगती है ? यह सब तो राग-द्वेष का खेल है, मिथ्यात्व की महिमा है; वैसे तो सभी आत्मा भगवानस्वरूप हैं। यह क्यों कहते हो कि विरोधी कमजोर हो गए हैं, यह कहो न कि उनका विरोध कमजोर हो गया है, अत: अब वे हमारे मित्र बन रहे हैं। हमें विरोधियों को नहीं, विरोध को मिटाना है। जब विरोध मिट जावेगा तो विरोधी ही मित्र बन जावेंगे। **ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ २३५**

नियमसार गाथा ९३

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि एकमात्र ध्यान ही उपादेय है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं।।९३।।

(हरिगीत)

निजध्यान में लवलीन साधु सर्व दोषों को तजे।
बस इसलिए यह ध्यान ही सर्वातिचारी प्रतिक्रमण।।९३।।

ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करते हैं। इसलिए वस्तुत: ध्यान ही सभी अतिचारों का प्रतिक्रमण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ एकमात्र ध्यान ही उपादेय है ह्न यह कहा गया है।

कोई अति आसनन्नभव्य परमजिन योगीश्वर साधु, अध्यात्मभाषा में पूर्वोक्त स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान में लीन होता हुआ अभेदरूप से स्थित रहता है, अथवा सभीप्रकार के क्रियाकाण्ड के आडम्बर से रहित, व्यवहारनयात्मक भेद संबंधी और ध्यान-ध्येय संबंधी विकल्पों से रहित, सभी इन्द्रियों के अगोचर परमतत्त्व - शुद्ध अन्त:तत्त्व संबंधी भेदकल्पना से निरपेक्ष निश्चय शुक्लध्यान में स्थित रहता है; वह साधु सम्पूर्णत: अन्तर्मुख होने से प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का परित्याग करता है।

इससे यह सहज ही सिद्ध होता है कि **अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान ह्न ये दो ध्यान ही सभीप्रकार के अतिचारों के प्रतिक्रमण हैं।**''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ मुनिदशा की मुख्यता से कथन है, इसलिये ध्यान में लीनता की बात की है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी शुद्धात्मा के ध्यान से ही होते हैं। चैतन्यस्वभाव के श्रद्धाज्ञानपूर्वक उसमें विशेष लीनता हो जाने पर रागादि दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती; इसलिए चैतन्य के ध्यान में लीनता ही समस्त अतिचारों का प्रतिक्रमण है। **चैतन्य के ध्यान की अस्ति में समस्त दोषों की नास्ति है,** इसलिये इसी का नाम प्रतिक्रमण है।[१]''

इस गाथा और इसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि **एकमात्र ध्यान ही धर्म है; क्योंकि निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान में धर्म के सभी अंग समाहित हो जाते हैं।** यही कारण है कि यहाँ कहा गया है कि **ध्यान में सभी अतिचारों का प्रतिक्रमण हो जाता है, सभी अतिचारों का निराकरण हो जाता है।।९३।।**

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम्।।१२४।।

(हरिगीत)

चित्तमंदिर में सदा दीपक जले शुक्लध्यान का।
उस योगि को शुद्धातमा प्रत्यक्ष होता है सदा।।१२४।।

यह शुक्लध्यानरूपी दीपक जिनके मनमंदिर में जलता है, उस योगी को सदा शुद्धात्मा प्रत्यक्ष होता है।

इस कलश में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि जिन योगियों के चित्तरूपी चैत्यालय में शुक्लध्यानरूपी दीपक जलता है; उस योगी के शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव निरन्तर रहता ही है। इसमें रंचमात्र भी संदेह की गुंजाइश नहीं है।।१२४।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७५३

नियमसार गाथा ९४

परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार की इस अन्तिम गाथा में व्यवहार-प्रतिक्रमण की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं।।९४।।

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण नामक सूत्र में वर्णन किया जिसरूप में।
प्रतिक्रमण होता उसे जो भावे उसे उस रूप में।।९४।।

प्रतिक्रमण नामक सूत्र में प्रतिक्रमण का स्वरूप जिसप्रकार बताया गया है, उसे जब मुनिराज तदनुसार भाते हैं; तब उन्हें प्रतिक्रमण होता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ व्यवहारप्रतिक्रमण की सफलता की बात की है।

समस्त आगम के सार और असार का विचार करने में अति चतुर तथा अनेक गुणों के धारक निर्यापकाचार्यों ने जिसप्रकार द्रव्यश्रुतरूप प्रतिक्रमण नामक सूत्र में प्रतिक्रमण का अति विस्तृत वर्णन किया है; तदनुसार जानकर जिननीति का उल्लंघन न करते हुए ये चारु चारित्र की मूर्तिरूप जो महामुनिराज सकल संयम की भावना करते हैं, बाह्य प्रपंचों से विमुख, पंचेन्द्रिय विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रहधारी और परमगुरु के चरणों में स्मरण में आसक्त चित्तवाले उन मुनिराजों को प्रतिक्रमण होता है।''

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इसमें दोनों बातें आ गई कि सकलसंयम की भावना से स्वरूप में ठहरते हैं और जब विकल्प उठता है, तब परमगुरु के प्रति भक्ति का शुभभाव भी आता है ह्न ऐसी दशावाले चारित्रमूर्ति मुनिराजों को ही प्रतिक्रमण होता है।[१]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७५७-७५८

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि निर्यापकाचार्यों द्वारा द्रव्यश्रुत में समागत प्रतिक्रमण सूत्र में निरूपित प्रतिक्रमण के स्वरूप को जानकर जिननीति का उल्लंघन न करनेवाले और संयम के धारण करने की भावना रखनेवाले मुनिराजों के प्रतिक्रमण होता है।।९४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(इन्द्रवज्रा)

निर्यापकाचार्यनिरुक्तियुक्ता-
मुक्तिं सदाकर्ण्य च यस्य चित्तम्।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात्
तस्मै नम: संयमधारिणेऽस्मै।।१२५।।

(दोहा)

निर्यापक आचार्य के सुनकर वचन सयुक्ति।
जिनका चित्त चारित्र घर वन्दूँ उनको नित्य।।१२५।।

निर्यापकाचार्यों के निरुक्ति सहित कथन सुनकर जिनका चित्त चारित्र का निकेतन (घर) बनता है; ऐसे संयम धारियों को नमस्कार हो।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''निर्यापकाचार्यों ने भी यह बात सुनाई थी कि प्रतिक्रमण का शुभ विकल्प निश्चय से विषकुम्भ है, और शुभाशुभरहित होकर स्वरूप में लीनता होना ही अमृतकुम्भमय प्रतिक्रमण है।[१]

चरणानुयोग में कथित प्रतिक्रमण का सार भी यही है कि चैतन्य में ठहरना। जितनी चैतन्य में लीनता है, उतना ही प्रतिक्रमण है।[२]

प्रथम चैतन्य का भान करके मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण होता है, तत्पश्चात् चैतन्य में लीनता होने पर मुनिदशारूप प्रतिक्रमण होता है।[३]''

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७५९
२. वही, पृष्ठ ७५९ ३. वही, पृष्ठ ७६०

(वसंततिलका)

यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो-
र्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम्।।१२६।।

(वसंततिलका)

अरे जिन्हें प्रतिक्रमण ही नित्य वर्ते।
अणुमात्र अप्रतिक्रमण जिनके नहीं है॥
जो सकल संयम भूषण नित्य धारें।
उन वीरनन्दि मुनि को नित ही नमें हम॥१२६॥

मोक्ष की इच्छा रखनेवाले वीरनन्दी मुनिराज को सदा प्रतिक्रमण ही है, अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है; उन सकल संयमरूपी आभूषण को धारण करनेवाले वीरनन्दि मुनिराज को सदा नमस्कार हो।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनियों को यहाँ 'मुमुक्षु' कहा है। उन्हें चैतन्य में लीनता से सदा शुद्धि की वृद्धि ही हुआ करती है और राग का अभाव होता जाता है। इसलिये उनके सदा प्रतिक्रमण है और अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है।[१]''

इस छन्द में उन वीरनन्दि मुनिराज को नमस्कार किया गया है; जो सकल संयमरूपी आभूषणों के धारण करनेवाले हैं और जिन्हें सदा प्रतिक्रमण है तथा अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है।

ध्यान रहे, इन वीरनन्दि मुनिराज को तात्पर्यवृत्ति टीका के आरंभिक मंगलाचरण के तीसरे छन्द में भी याद किया गया है और वहाँ इन्हें सिद्धांत, तर्क और व्याकरण ह्न इन तीनों विधाओं से समृद्ध बताया गया है। ये पद्मप्रभमलधारिदेव के साक्षात् गुरु हैं॥१२५-१२६॥

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार नामक पाँचवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७६०

६

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार

(गाथा ९५ से गाथा १०६ तक)

नियमसार गाथा ९५

नियमसार अनुशीलन भाग-२ में अबतक परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार की चर्चा १८ गाथाओं में समाप्त हुई। अब निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार आरंभ होता है।

नियमसार की ९५वीं गाथा और निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार की पहली इस गाथा में निश्चयप्रत्याख्यान के स्वरूप को समझाते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स।।९५।।

(हरिगीत)

सब तरह के जल्प तज भावी शुभाशुभ भाव को।
जो निवारण कर आतम ध्यावे उसे प्रत्याख्यान है॥९५॥

सम्पूर्ण जल्प अर्थात् सम्पूर्ण वचन विस्तार को छोड़कर और भावी शुभ-अशुभ भावों का निवारण करके जो मुनिराज आत्मा को ध्याते हैं, तब उन मुनिराजों को प्रत्याख्यान होता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चयनय से कहे गये प्रत्याख्यान के स्वरूप का आख्यान है।

यहाँ व्यवहारनय की अपेक्षा मुनिराज दिन-दिन में भोजन करके फिर योग्यकाल तक के लिए अन्न, पीने योग्य पदार्थ, खाद्य और लेह्य की रुचि छोड़ते हैं ह्न यह व्यवहारप्रत्याख्यान का स्वरूप है।

निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्त वचन रचना के प्रपंच (विस्तार) के परिहार के द्वारा शुद्धज्ञानभावना की सेवा के प्रसाद से नये शुभाशुभ द्रव्यकर्मों और भावकर्मों का संवर होना निश्चयप्रत्याख्यान है।

जो अंतर्मुख परिणति के द्वारा परमकला के आधाररूप अति अपूर्व आत्मा को सदा ध्याता है, उसे नित्यप्रत्याख्यान है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ऐसा कहा कि व्यवहारनय के कथन से, मुनिराज प्रतिदिन भोजन करके योग्य काल पर्यन्त अन्न, पान, खाद्य, लेह्य की रुचि छोड़ देते हैं ह्न यह व्यवहारप्रत्याख्यान का स्वरूप है। **जिसने अन्तर में चैतन्य के आश्रय से निश्चयप्रत्याख्यान प्रगट किया है, उसी मुनि को ऐसा व्यवहार-प्रत्याख्यान होता है।**[१]

निश्चयनय से समस्त प्रशस्त-अप्रशस्त वचनरचना के प्रपंच के परिहार द्वारा शुद्धज्ञानभावना की सेवा के प्रसाद से जो नवीन शुभाशुभ द्रव्यकर्मों का संवर हुआ, वह प्रत्याख्यान है। आत्मा का शुद्धज्ञान त्रिकाल है; उसकी भावना के प्रसाद से जो वीतरागदशा प्रगट हुई, वही निश्चय से प्रत्याख्यान है।[२]

आत्मा के स्वभाव में अन्तर्मुख होकर उसका ध्यान करने से ही वीतरागदशारूप परमकला प्रगट होती है। शुद्धपरिणमन में आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का आधार नहीं होता।[३]''

इस गाथा और इसकी टीका में अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि **आत्मा का ध्यान ही प्रत्याख्यान है; क्योंकि ध्यान अवस्था में निश्चय-व्यवहार प्रत्याख्यान (त्याग) सहज ही प्रगट हो जाते हैं।**

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि टीका में **दिने-दिने** शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ स्वामीजी प्रतिदिन करते हैं।।९५।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७६३
२. वही, पृष्ठ ७६३-७६४
३. वही, पृष्ठ ७६४

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथा चोक्तं समयसारे ह्न** तथा समयसार में भी कहा है ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं।।४६।।[१]

(हरिगीत)

परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करे।
तब त्याग हो बस इसलिए ही ज्ञान प्रत्याख्यान है।।४६।।

जिसकारण यह आत्मा अपने आत्मा से भिन्न समस्त पर-पदार्थों का 'वे पर हैं' ह्न ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है; उसी कारण प्रत्याख्यान ज्ञान ही है। ह्न ऐसा नियम से जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था होना ही प्रत्याख्यान है, त्याग है; अन्य कुछ नहीं।

इस गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी प्रवचन-रत्नाकर में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''परद्रव्य को पररूप से जाना तो परभाव का ग्रहण नहीं हुआ, वही उसका त्याग है। राग की ओर उपयोग के जुड़ान से जो अस्थिरता थी; उस ज्ञानोपयोग के ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा में स्थिर होने पर अस्थिरता उत्पन्न ही नहीं हुई, बस इसे ही प्रत्याख्यान कहते हैं। **इसलिए स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। ज्ञान के सिवाय दूसरा कोई भाव प्रत्याख्यान नहीं है। ज्ञायक चैतन्यसूर्य में ज्ञान का स्थिर हो जाना ही प्रत्याख्यान है।**[२]''

आत्मा को जानना ज्ञान है और आत्मा को ही लगातार जानते रहना प्रत्याख्यान है, त्याग है, ध्यान है। प्रत्याख्यान, त्याग और ध्यान ह्न ये सभी चारित्रगुण के ही निर्मल परिणमन हैं; जो ज्ञान की स्थिरतारूप ही हैं। अत: यह ठीक ही कहा है कि स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।।४६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **तथा समयसार-व्याख्यायां ह्न** तथा समयसार की व्याख्या आत्मख्याति टीका में भी कहा है ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. समयसार, गाथा ३४
२. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग-२, पृष्ठ ८३

(आर्या)

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।४७ ।।[१]

(रोला)

नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं।
करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो।।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।४७।।

जिसका मोह नष्ट हो गया है ह्न ऐसा मैं अब भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

इस कलश में तो यह बात स्पष्टरूप से सामने आ जाती है कि **आत्म-ध्यान ही वास्तविक प्रत्याख्यान है; क्योंकि इसमें तो साफ-साफ शब्दों में कहा गया है कि प्रत्याख्यान करके अब मैं तो आत्मा में ही वर्त रहा हूँ।।४७।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथाहि ह्न** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः।
सच्चारित्राण्यघकुलहराण्यस्य तानि स्युरुच्चैः
तं वंदेहं भवपरिभवक्लेशनाशाय नित्यम् ।।१२७ ।।

(हरिगीत)

जो ज्ञानि छोड़े कर्म अर नोकर्म के समुदाय को।
उस ज्ञानमूर्ति विज्ञजन को सदा प्रत्याख्यान है।।
और सत् चारित्र भी है क्योंकि नाशे पाप सब।
वन्दन करूँ नित भवदुखों से मुक्त होनेके लिए।।१२७।।

जो सम्यग्दृष्टि समस्त कर्म-नोकर्म के समूह को छोड़ता है; उस

१. समयसार, कलश २२८

सम्यग्ज्ञान की मूर्ति को सदा प्रत्याख्यान है। उसे पापसमूह का नाश करनेवाला सम्यक्चारित्र भी अतिशयरूप होता है। भव-भव में होनेवाले क्लेशों का नाश करने के लिए उसे मैं नित्य वंदन करता हूँ।

इस कलश का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिस सम्यग्दृष्टि को कर्म-नोकर्म से भिन्न चैतन्यवस्तु का भान हो गया; वह कर्म-नोकर्म के समूह को छोड़कर जब चैतन्य में लीन होता है, तब उसे सदा प्रत्याख्यान है।

जो अपना मूलस्वरूप न हो, उसका ही त्याग होता है; क्योंकि जो अपना मूलस्वरूप हो, उसका त्याग हो ही नहीं सकता।

जो सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को जानता हुआ उसमें लीन होता है, वह सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञान की मूर्ति है और उसे सदा ही राग का त्याग वर्तता है।

यहाँ तो प्रत्याख्यान सिद्ध करना है, इसलिये राग के त्याग करने की बात की है; दृष्टि के विषय में तो आत्मा को रागादि का ग्रहण-त्याग है ही नहीं।[१]''

इस कलश में यही कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित चारित्र धारण करनेवाले सन्तों के तो प्रत्याख्यान (त्याग) सदा वर्तता है। भव का अभाव करनेवाले प्रत्याख्यान की मैं सदा वंदना करता हूँ।।१२७।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७६६

सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं, परमात्मा कोई अलग नहीं होते। स्वभाव से तो सभी आत्मायें स्वयं परमात्मा ही हैं, पर अपने परमात्मस्वभाव को भूल जाने के कारण दीन-हीन बन रहे हैं। जो अपने को जानते हैं, पहिचानते हैं, और अपने में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं; वे पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं। **ह्न आप कुछ भी कहो, पृष्ठ १३**

नियमसार गाथा ९६

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि ज्ञानी यह विचारते हैं कि मैं अनन्तचतुष्टयस्वरूप हूँ। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सो हं इदि चिंतए णाणी।।९६।।

(हरिगीत)

ज्ञानी विचारें इसतरह यह चिन्तवन उनका सदा।
केवल्यदर्शन-ज्ञान-सुख-शक्तिस्वभावी हूँ सदा।।९६।।

ज्ञानी इसप्रकार चिन्तवन करते हैं कि मैं केवलज्ञानस्वभावी हूँ, केवलदर्शनस्वभावी हूँ, मैं सुखमय (केवलसुखस्वभावी) हूँ और केवल-शक्तिस्वभावी हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अनन्तचतुष्टयात्मक निज आत्मा के ध्यान के उपदेश का कथन है। यहाँ समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से विमुक्त, सम्पूर्णत: अन्तर्मुख, परमतत्त्वज्ञानी जीव को शिक्षा दी गई है।

किसप्रकार की शिक्षा दी गई ? ह्न ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से शुद्ध स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गल परमाणु की भाँति; मैं केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख तथा केवलशक्तियुक्त परमात्मा हूँ ह्न ज्ञानी को ऐसी भावना करना चाहिए और निश्चयनय से मैं सहजदर्शनस्वरूप हूँ, मैं सहजचारित्रस्वरूप हूँ तथा मैं सहज चित्-शक्तिस्वरूप हूँ ह्न ऐसी भावना करना चाहिए।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''केवलज्ञान-दर्शन-सुख और शक्तिसम्पन्न परमात्मा ही मैं हूँ।

त्रिकाली भगवान आत्मा निश्चय है और उस स्वभाव के आश्रय से जो केवलज्ञानादि प्रगट हुये, वे शुद्धसद्भूतव्यवहार हैं; मैं उनका ही आधार हूँ; अपूर्णता का, विकार का मैं आधार नहीं हूँ।

जैसे परमाणु अपनी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की शुद्धपर्याय का आधार है; वैसे ही मेरा आत्मा भी शुद्ध केवलज्ञानादि चतुष्टय का आधार है।

जैसे केवली परमात्मा हैं, वैसा ही मैं हूँ ह्न ऐसे अपने स्वभाव की भावना करना अर्थात् अल्पज्ञता अथवा विकार का लक्ष छोड़कर पूर्णस्वभाव का ही आश्रय करके उसमें एकाग्र होना। **अल्पज्ञता के समय भी पूर्णता के आधाररूप अपने स्वभाव को ही देख, उसी के आधार से पूर्ण पर्याय विकसित होगी।**

प्रत्याख्यान तो वीतरागता है और वह स्वभाव के आश्रय से होती है, इसलिए पूर्ण स्वभाव का आश्रय करनेवाले को ही सच्चा प्रत्याख्यान होता है। **व्यवहारनय से मैं शुद्धपर्यायों से युक्त परमात्मा हूँ ह्न ऐसी भावना करना और निश्चय से मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ, सहजदर्शनस्वरूप हूँ, सहजचारित्रस्वरूप हूँ, और सहजचित्शक्तिस्वरूप हूँ ह्न ऐसी भावना करना।** इसमें पर्याय की बात नहीं है, किन्तु त्रिकाली स्वरूप की बात है, इसमें सहजज्ञान-दर्शन आदि भेदों का भी विकल्प नहीं है। चार भेदों के ऊपर दृष्टि जाये तब तो विकल्प उठता है।

अभेदरूप सहजस्वरूप निश्चय है और उसकी भावना करने पर जो केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगट हो जाती हैं, वह शुद्धव्यवहार है।

धर्म की विशेषता बाहर में नहीं होती; धर्म तो आत्मा में होता है, बाहर में नहीं। ज्ञान को अन्तर्मुख करके एकाग्र करना ही धर्मी की विशेषता है। धर्मी तो स्वभाव का आश्रय लिए हुए पड़ा है, इसलिए उसके स्वभाव की खान में से निर्मल-निर्मल पर्यायें प्रगट होती जाती हैं। अपने स्वभाव की भावना करके उसमें एकाग्र होना प्रत्याख्यान की क्रिया है।[१]''

इस गाथा में यह कहा गया है कि ज्ञानी ऐसा सोचते हैं कि मैं

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७६९-७७०

अनन्तचतुष्टयस्वरूप हूँ; पर टीकाकार कहते हैं कि ज्ञानी को ऐसा सोचना चाहिए कि मैं अनन्तचतुष्टयस्वरूप हूँ।

आप कह सकते हैं कि इसमें क्या अन्तर है, एक ही बात तो है; पर भाईसाहब ! गाथा में कहा है कि ज्ञानी ऐसा सोचते हैं और टीका में कहते हैं कि सोचना चाहिए ह्न यह साधारण अन्तर नहीं है; क्योंकि **जब ज्ञानी सदा ऐसा सोचते ही हैं तो फिर यह कहने की क्या आवश्यकता है कि उन्हें ऐसा सोचना चाहिए ? अरे, भाई ! उपयोग बार-बार बाहर चला जाता है; इसलिए आचार्यदेव अपने शिष्यों को ऐसा उपदेश देते हैं कि सदा इसीप्रकार के चिन्तन में रत रहो ।।९६।।**

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **तथा चोक्त-मेकत्वसप्ततौ ह्न** तथा एकत्व सप्तति में भी कहा है ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ।।४८।।[१]

(रोला)

केवलदर्शनज्ञानसौख्यमय परमतेज वह।
उसे देखते किसे न देखा कहना मुश्किल।।
उसे जानते किसे न जाना कहना मुश्किल।
उसे सुना तो किसे न सुना कहना मुश्किल।।४८।।

वह परमतेज केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसौख्यस्वभावी है। उसे जानते हुए क्या नहीं जाना, उसे देखते हुए क्या नहीं देखा और उसका श्रवण करते हुए क्या नहीं सुना ?

इस छन्द के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अहो! अपना आत्मा परमतेज केवलज्ञान-दर्शन-सुखस्वभावी है। ऐसे अपने आत्मा को जान लेने पर क्या नहीं जान लिया? जिसने आत्मा को जान लिया, उसने सबकुछ जान लिया। जिसने आत्मा को

१.पद्मनन्दिपंचविंशति, एकत्वसप्तति अधिकार, छन्द २०

देखा उसने क्या नहीं देखा? तीन लोक के दृष्टा को जिसने देख लिया, उसने सब देख लिया। जिसने ऐसे आत्मा का श्रवण किया, उसने क्या नहीं श्रवण किया? भगवान आत्मा की बात जिसने सुनी, उसने चारों अनुयोगों का सार सुन लिया। यहाँ बाँचने की बात न लेकर श्रवण की बात ली है, अर्थात् पात्र होकर गुरुगम से सुनना चाहिये।[१]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि **अनन्तचतुष्टय स्वभावी जो अपना आत्मा है; उसे जान लेने पर, देख लेने पर, सुन लेने पर; कुछ जानना-देखना-सुनना शेष नहीं रहता।** अत: एक आत्मा को ही सुनो, देखो, जानो; अन्यत्र भटकने की क्या आवश्यकता है?।।४८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(मालिनी)

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानंदरूपः ।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ।।१२८।।

(अडिल्ल)

मुनिराजों के हृदयकमल का हंस जो।
निर्मल जिसकी दृष्टि ज्ञान की मूर्ति जो।।
सहज परम चैतन्य शक्तिमय जानिये।
सुखमय परमातमा सदा जयवंत है।।१२८।।

सभी मुनिराजों के हृदयकमल का हंस, केवलज्ञान की मूर्ति, सम्पूर्ण निर्मलदृष्टि से सम्पन्न, शाश्वत आनन्दरूप, सहजपरमचैतन्यशक्तिमय यह शाश्वत परमात्मा जयवंत वर्त रहा है।

इस छन्द में अत्यन्त भक्तिभाव से शाश्वत परमात्मा की स्तुति की गई है। उन्हें मुनिराजों के हृदयकमल का हंस बताया गया है, केवलज्ञान की मूर्ति कहा गया है, निर्मलदृष्टि से सम्पन्न, शाश्वत आनन्दमय और चैतन्य की शक्तिमय कहा गया है।।१२८।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७७१

नियमसार गाथा ९७

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि ज्ञानी जीव सदा किसप्रकार का चिन्तवन करते रहते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी।।९७।।

(हरिगीत)

ज्ञानी विचारें देखे-जाने जो सभी को मैं वही।
जो ना ग्रहे परभाव को निज भाव को छोड़े नहीं।।९७।।

ज्ञानी इसप्रकार चिन्तवन करता है कि यह भगवान आत्मा अर्थात् मैं निजभाव को छोड़ता नहीं और किसी भी परभाव को ग्रहण नहीं करता; मात्र सबको जानता-देखता हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ परमभावना के सम्मुख ज्ञानी को शिक्षा दी गई है।

जो कारणपरमात्मा; समस्त पापरूपी बहादुर शत्रुसेना की विजय-ध्वजा को लूटनेवाले, त्रिकाल निरावरण, निरंजन, निजपरमभाव को कभी नहीं छोड़ता; पाँच प्रकार के संसार की वृद्धि के कारणभूत, विभावरूप पुद्गलद्रव्य के संयोग से उत्पन्न रागादिरूप परभावों को ग्रहण नहीं करता और निश्चय से स्वयं के निरावरण परमबोध से निरंजन सहजज्ञान, सहजदृष्टि, सहजचारित्र स्वभाव धर्मों के आधार-आधेय संबंधी विकल्पों से रहित, सदा मुक्त तथा सहज मुक्तिरूपी स्त्री के संभोग से उत्पन्न होनेवाले सौख्य के स्थानभूत कारणपरमात्मा को निज निरावरण परमज्ञान द्वारा जानता है और उसीप्रकार के सहज अवलोकन द्वारा देखता है; वह कारणसमयसार मैं हूँ ह्न ऐसी भावना सम्यग्ज्ञानियों को सदा करना चाहिए।''

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''निजभाव अर्थात् अपने त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को आत्मा कभी नहीं छोड़ता। वस्तु का स्वभाव कभी नहीं छूटता। जैसे गुड़ अपने मिठास को कभी नहीं छोड़ता, वैसे ही आत्मा कभी अपने सहजस्वरूप को नहीं छोड़ता।

वस्तु के स्वभाव में एक समय का विकार कभी हुआ ही नहीं, त्रिकाली द्रव्यस्वभाव ने कभी विकार को पकड़ा ही नहीं, वह तो त्रिकाल सबका ज्ञायक-दर्शक है और वह ऐसा आत्मा ही मैं हूँ ह्न इसप्रकार ज्ञानी अपने आत्मा का चिन्तवन करके उसमें एकाग्र होता है।

आचार्यदेव प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि पर्यायबुद्धि को छोड़कर स्वभावबुद्धि करके अपने आत्मा का आश्रय कर![१]

पूर्णस्वभाव तो जैसे का तैसा शाश्वत है, उसकी भावना और एकाग्रता करने से ही राग का प्रत्याख्यान होता है।[२]

भगवान परमात्मा त्रिकाल समस्त विकार के अभावस्वरूप ही है, उसका आश्रय लेने पर मिथ्यात्वादि पापों की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए वह कारणपरमात्मा समस्त पापरूपी सेना को लूटनेवाला है ह्न ऐसा कहा। उस कारणपरमात्मा के आश्रय से ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय का प्रत्याख्यान हो जाता है अर्थात् उन भावों की उत्पत्ति ही नहीं होती। वह कारणपरमात्मा अपने परमभाव को कभी छोड़ता नहीं।[३]

एक छूटे हुए पुद्गलपरमाणु को स्वभावपुद्गल कहते हैं और स्कंध को विभावपुद्गल कहते हैं। **आत्मा को विकार उत्पन्न करने में एक छूटा परमाणु निमित्त नहीं होता, किन्तु विभावपुद्गल ही निमित्त होता है; तथापि उस पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाले परभाव को भगवान कारणपरमात्मा कभी ग्रहण नहीं करता।** पर्याय में क्षणिक रागादि परभाव होते हैं, उन्हें आत्मा अपने स्वभाव में कभी ग्रहण नहीं करता। वस्तु तो त्रिकाल एकरूप जैसी की तैसी है। उस वस्तुस्वरूप की श्रद्धा,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७७४
२. वही, पृष्ठ ७७४
३. वही, पृष्ठ ७७५

ज्ञान और रमणता करना ही प्रत्याख्यान है। वस्तुस्वभाव में राग का ग्रहण ही नहीं है; अतः वास्तव में राग का त्याग करना भी नहीं है।

सचमुच बात तो यह है कि वस्तुस्वभाव को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र होने पर जो निर्मलपर्याय उत्पन्न होती है, उस पर्याय में राग का अभाव है; इसलिए उसका नाम प्रत्याख्यान है।[१]''

इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि यह **भगवान आत्मा अपने स्वभाव भाव को कभी छोड़ता नहीं है और रागादिभावों सहित सम्पूर्ण परभावों का कभी ग्रहण नहीं करता; क्योंकि इसमें एक त्यागोपादान-शून्यत्वशक्ति है, जिसके कारण यह पर के ग्रहण-त्याग से पूर्णत: शून्य है।** यह तो सभी स्व-पर पदार्थों को मात्र जानता-देखता है, उनमें कुछ करता नहीं है। ऐसा यह भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। ज्ञानी जीव सदा ऐसा चिन्तवन करते हैं।।९७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथा चोक्तं श्री पूज्यपादस्वामिभि: ह्न** तथा पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है ह्न कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।४९।।[२]

(हरिगीत)

जो गृहीत को छोड़े नहीं पर न ग्रहे अग्राह्य को।
जाने सभी को मैं वही है स्वानुभूति गम्य जो।।४९।।

जो अग्राह्य को ग्रहण नहीं करता, गृहीत को अर्थात् शाश्वत शुद्ध स्वभाव को छोड़ता नहीं है और सभी को सभी प्रकार से जानता है; वह स्वसंवेद्य तत्त्व मैं स्वयं ही हूँ।

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि जो रागादि विकारी भाव अग्राह्य हैं, ग्रहण करने योग्य नहीं; उन्हें जो ग्रहण नहीं करता और **जिसे अनादिकाल से ग्रहण किया हुआ है ह्न ऐसा जो अपना**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७७५-७७६ २. समाधिशतक, छन्द २०

ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, उसे जो छोड़ता नहीं है तथा जो सभी पदार्थों को देखता-जानता है, वह स्वसंवेद्य पदार्थ, वह स्वानुभूतिगम्य पदार्थ मैं हूँ। ह्न ज्ञानी ऐसा चिन्तवन करते हैं।

इसी को धर्मध्यान कहते हैं, प्रत्याख्यान कहते हैं। साधर्मी भाई-बहिनों को करने योग्य एकमात्र कार्य यही है।।४९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव चार छन्द स्वयं लिखते हैं; जिसमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा
जानाति पश्यति च पंचमभावमेकम् ।
तत्याज नैव सहजं परभावमन्यं
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम् ।।१२९।।

(हरिगीत)

आतमा में आतमा को जानता है देखता।
बस एक पंचमभाव है जो नंतगुणमय आतमा।।
उस आतमा ने आजतक छोड़ा न पंचमभाव को।
और जो न ग्रहण करता पुद्गलिक परभाव को।।१२९।।

यह आत्मा, आत्मा में अपने आत्मा संबंधी गुणों से समृद्ध आत्मा को अर्थात् एक पंचमभाव को जानता-देखता है; क्योंकि इसने उस सहज पंचमभाव को कभी छोड़ा ही नहीं है और यह पौद्गलिक विकार रूप परभावों को कभी ग्रहण भी नहीं करता।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्यमूर्ति पंचमभावस्वरूप आत्मा को आत्मा जानता है। पंचमभाव को जाननेवाली तो पर्याय है, परन्तु वह पर्याय आत्मा में अभेद है। द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं, इसलिए 'आत्मा आत्मा को जानता है' ह्न ऐसा कहा है। **वास्तव में जानने का कार्य तो पर्याय ही करती है, ध्रुवतत्त्व जानने का कार्य नहीं करता। वहाँ उस पर्याय का लक्ष ध्रुवतत्त्व के ऊपर है; तथापि वह पर्याय स्वयं अन्धी रहकर द्रव्य**

को नहीं जानती, वह द्रव्य को जानने के साथ-साथ अपने को भी बराबर जानती है। प्रगट होती हुई पर्याय स्वयं अपने को स्वसंवेदन से जानती हुई प्रगट होती है।[१]

यहाँ 'आत्मा आत्मा को जानता है' ह्न ऐसा कहकर पर्याय समय-समय आत्मा से अभेद होती जाती है ह्न ऐसा बतलाया है।

औदयिकादि पर्यायों के ऊपर लक्ष नहीं है, लक्ष तो ध्रुव पारिणामिक भाव पर है; इसलिए ऐसा कहा कि आत्मा एक पंचमभाव को जानता है, परन्तु वहाँ ऐसा मत समझना कि अकेले सामान्य का ही ज्ञान है और विशेष का ज्ञान है ही नहीं। **द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान साथ ही होता है।** वर्तमान पर्याय आत्मा के साथ अभेद होकर आत्मा को जानती है। **पर्यायरूप परिणमे बिना अकेला द्रव्य द्रव्य को जानता है ह्न ऐसा नहीं है।**

आत्मा आत्मा में एक पंचमभाव को जानता है ह्न ऐसा कहा; परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि अन्य चार भावों का ज्ञान ही नहीं होता। उनका भी ज्ञान तो होता है, किन्तु **दृष्टि में अभेद आत्मा की ही मुख्यता है; इसलिए ऐसा कहा कि आत्मा एक पंचमभाव को जानता-देखता है।** जिसने अपने सहज एक पंचमभाव को कभी छोड़ा ही नहीं और अन्य परभावों को कभी ग्रहण किया ही नहीं ह्न ऐसे आत्मा का भान होने के पश्चात् ही उसमें एकाग्र होने पर राग का त्याग हो जाता है और उसी का नाम प्रत्याख्यान है। जिसने चैतन्य ज्ञायकभाव को कभी छोड़ा नहीं और विकार को अपने में ग्रहण किया नहीं ह्न ऐसा जो परम-पारिणामिक भाव है, उसकी प्रतीति करके उसमें एकाग्र होना ही प्रत्याख्यान है।[२]''

उक्त कलश में यह कहा गया है कि यह आत्मा, अनंत गुणों से समृद्ध पंचमभावरूप अपने आत्मा को अपने आत्मा में ही जानता-देखता है। इस आत्मा ने उक्त परमपारिणामिकभावरूप पंचमभाव को

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७७९ २. वही, पृष्ठ ७७९-७८०

कभी छोड़ा नहीं है और विकाररूप पौद्गलिक विभावभावों को कभी ग्रहण नहीं किया।।१२९।।

दूसरा व तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिंतामणा-
वन्यद्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहम्।
तच्चित्रं न विशुद्धपूर्णसहजज्ञानात्मने शर्मणे।
देवानाममृताशनोद्भवरुचिं ज्ञात्वा किमन्याशने।।१३०।।
निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं
नान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्मामृतं निर्मलम्।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिंतामणिम्।।१३१।।

(रोला)

अन्य द्रव्य के आग्रह से जो पैदा होता।
उस तन को तज पूर्ण सहज ज्ञानात्मक सुख की।।
प्राप्ति हेतु नित लगा हुआ है निज आतम में।
अमृतभोजी देव लगे क्यों अन्य असन में।।१३०।।
अन्य द्रव्य के कारण से उत्पन्न नहीं जो।
निज आतम के आश्रय से जो पैदा होता।।
उस अमृतमय सुख को पी जो सुकृत छोड़े।
प्रगटरूप से वे चित् चिन्तामणि को पावें।।१३१।।

अब अन्य द्रव्य का आग्रह (एकत्व) करने से उत्पन्न होनेवाले इस विग्रह (शरीर-राग-द्वेष-कलह) को छोड़कर; विशुद्ध, पूर्ण, सहज ज्ञानात्मक सुख की प्राप्ति के लिए मेरा यह अन्तर चैतन्यचिन्तामणिरूप आत्मा निरन्तर मुझमें ही लगा है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि अमृतभोजन जनित स्वाद को चखनेवाले देवों को अन्य भोजन से क्या प्रयोजन है ?

जो जीव अबतक पुण्यकार्य में लगा हुआ है; अब इस सुकृत (पुण्यकार्य) को छोड़कर द्वन्द्वरहित, उपद्रवरहित, उपमारहित, नित्य निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले, अन्य द्रव्यों की विभावना से उत्पन्न न होनेवाले इस निर्मल सुखामृत को पीकर अद्वितीय, अतुल, चैतन्य-भावरूप चिन्तामणि को प्रगटरूप से प्राप्त करता है।

इन छन्दों के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो! आत्मा का स्वाद आए बिना विषयों को छोड़ना चाहे तो वे छूट नहीं सकते। आत्मा के सहज आनन्द का भान होने पर विषयों में सुखबुद्धि नियम से छूट जाती है, रहती ही नहीं। जहाँ चैतन्य के सहज आनन्द का स्वाद आया, वहाँ विषयों की इच्छा नहीं होती।

अहो! टीकाकार कहते हैं कि हमारा मन तो सुखनिधान चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही लगा है अर्थात् अन्य सब भावों का हमारे प्रत्याख्यान हो गया है। जैसे देवों को अमृत का भोजन मिलने पर अन्य दूधपाक, हलवा आदि के भोजन सहज ही छूट गये होते हैं; वैसे ही हमें चैतन्य के सहजानन्द के स्वाद के मिलने पर शुभाशुभभावों का प्रत्याख्यान हो गया है, हमारा अन्तर तो निरन्तर चैतन्यस्वरूप में ही लगा है।[१]

जैसे अग्नि ईंधन से शान्त नहीं होती, वैसे ही विषय-वासना विषयों को भोगने से नहीं मिटती; किन्तु चैतन्य के आनन्द का भोग होने पर वह स्वयं ही टल जाती है। चैतन्यसुख के अनुभव के समक्ष ज्ञानी को शुभ और अशुभ में से किसी की भी इच्छा नहीं है। **चैतन्यसुख में लीन होकर पर से विरक्त होना ह्न यह एक ही निर्भयता का स्थान है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई स्थान निर्भय नहीं है।**

चैतन्य के आश्रय से जो सुख प्रगट हुआ; वह स्थायी रहता है, उसमें कोई उपद्रव नहीं है, वह अनुपम है। संसार का सुख कल्पित है, उपद्रवयुक्त है, क्षणिक है; जबकि चैतन्यभावना से उत्पन्न सुख उपमारहित, उपद्रवरहित और नित्य है। ऐसे चैतन्यसुख के सामने शुभकर्म भी दुःखरूप

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७८२

है; अतः उसे भी छोड़कर ज्ञानी अपने चैतन्य चिन्तामणि को स्फुटपने प्राप्त करते हैं।[१] **मुनियों ने दुष्कृत्य का परिणाम तो छोड़ा ही है, तथा महाव्रतादि का शुभ परिणाम भी छोड़कर वे अतुल चैतन्यस्वरूप में स्थिर होते हैं ह्न यही निश्चय से प्रत्याख्यान है।[२]''**

इन छन्दों में प्रगट किये भाव का सार यह है कि जिसप्रकार अमृत भोजन का स्वाद लेनेवाले देवों का मन अन्य भोजन में नहीं लगता; उसीप्रकार ज्ञानात्मक सहज सुख को भोगनेवाले ज्ञानीजनों-मुनिराजों का मन सुख के निधान चैतन्य चिन्तामणि के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं लगता।

अन्य द्रव्यों से अर्थात् अन्य द्रव्यों संबंधी विकल्प करने से उत्पन्न न होनेवाले तथा अनुपम निजात्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय सुख का स्वाद चख लेने के बाद पुण्योदय से प्राप्त होनेवाला पंचेन्द्रिय विषयोंवाला सुख दुःखरूप ही है। उसका तो मात्र नाम ही सुख है, वस्तुतः वह सुख नहीं, दुःख ही है। **ज्ञानी जीव उस लौकिक सुख को छोड़कर ज्ञानानन्दस्वभावी अपने आत्मा को प्राप्त करते हैं॥१३०-१३१॥**

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात्।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्चनासमुद्भूतम्॥१३२॥

(दोहा)

गुरुचरणों की भक्ति से जाने निज माहात्म्य।
ऐसा बुध कैसे कहे मेरा यह परद्रव्य॥१३२॥

गुरु चरणों की भक्ति के प्रसाद से उत्पन्न हुई अपने आत्मा की महिमा को जाननेवाला कौन विद्वान यह कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी ज्ञानी समझदार व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि यह परद्रव्य मेरा है॥१३२॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७८२-७८३ २. वही, पृष्ठ ७८४

नियमसार गाथा ९८

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि अबंधस्वभावी आत्मा का ध्यान करना ही धर्म है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
सो हं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं।।९८।।

(हरिगीत)

जो प्रकृति थिति अनुभाग और प्रदेश बंध बिन आतमा।
मैं हूँ वही ह्न यह सोचता ज्ञानी करे थिरता वहाँ।।९८।।

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबंध से रहित जो आत्मा है; मैं वही हूँ। ह्न ऐसा चिन्तवन करता हुआ ज्ञानी उसी में स्थिर भाव करता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ बंध रहित आत्मा को भाना चाहिए ह्न ऐसी शिक्षा भव्यों को दी गई है।

शुभाशुभ मन-वचन-काय संबंधी कर्मों से प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं और चार कषायों से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं। इन चार बंधों से रहित सदा निरुपधिस्वभावी आत्मा ही मैं हूँ ह्न ऐसी भावना सम्यग्ज्ञानी जीव को सदा भाना चाहिए।''

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा का स्वभाव चारों प्रकार के बन्धन से रहित ज्ञानस्वरूप है, उसे पहिचानकर उसमें एकाग्रतारूप भावना करने पर राग का त्याग हो जाता है ह्न यह प्रत्याख्यान है। आत्मा चार प्रकार के पुद्गलकर्म के बन्ध से तो रहित है ही, साथ ही कर्म के कारणरूप विकारी भावों से भी रहित है। बन्ध और बन्ध के भावों से रहित शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान

करके उसमें एकाग्र होना ही सच्चा प्रत्याख्यान है; इसलिए यहाँ 'बन्ध रहित आत्मा की भावना करो' ह्न ऐसी शिक्षा दी है।[१]

बन्धन में चार प्रकार हैं। उनमें से प्रकृति और प्रदेश का कारण तो योग का कम्पन है तथा स्थिति और अनुभाग का कारण चारों कषाय हैं। सोलहकारण भावना का जो शुभराग है, उससे भी आत्मा की शान्ति प्रगट नहीं होती, अपितु कर्म का बन्ध होता है; इसलिए शुभाशुभ भाव अथवा मन-वचन-काय की क्रिया आत्मा के संवर या प्रत्याख्यान का कारण नहीं हैं, प्रत्याख्यान का कारण तो कर्मसम्बन्ध रहित चैतन्य की भावना करना ही है।[२]

अकेले योग में शुभ-अशुभपना नहीं होता, उसमें शुभ-अशुभपना तो कषाय मिलने पर कहा जाता है और उससे कर्मबन्ध होता है। जिस भाव से कर्म बँधता है, उस भाव से प्रत्याख्यान नहीं हो सकता।

आत्मा के भान बिना सच्चा सामायिक अथवा सच्चा प्रत्याख्यान होता ही नहीं। एक समय की सामायिक अथवा संवर अल्पकाल में मुक्ति प्रदान करता है, परन्तु ऐसी सामायिक अज्ञानी के नहीं होती।[३]''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि बंध चार प्रकार का होता है। उनमें प्रकृति और प्रदेश बंध तो योग से और स्थिति तथा अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

यहाँ कषाय शब्द में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद भी शामिल समझने चाहिए; क्योंकि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में बंध के कारण पाँच बताये हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

इनमें से योग प्रकृति-प्रदेश बंध का कारण है, शेष चार स्थिति-अनुभाग बंध के कारण हैं। अत: यहाँ कषाय शब्द से कषायान्त का

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७८६
२. वही, पृष्ठ ७८६-७८७
३. वही, पृष्ठ ७८७

भाव लेना चाहिए। **कषाय हैं अन्त में जिसके उसे कषायान्त कहते हैं। इस न्याय से कषाय में मिथ्यात्वादि भी शामिल हैं।**

इस गाथा में यह भावना भाई गई है कि मैं चारों प्रकार के बंधों से रहित हूँ। ह्न ऐसी भावना वाले के ही सच्चा प्रत्याख्यान होता है।।९८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(मंदाक्रांता)

प्रेक्षावद्भि: सहजपरमानन्दचिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम्।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वच:सारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे।।१३३।।

(हरिगीत)

जो मूल शिव साम्राज्य परमानन्दमय चिद्रूप है।
बस ग्रहण करना योग्य है इस एक अनुपम भाव को।।
इसलिए हे मित्र सुन मेरे वचन के सार को।
इसमें रमो अति उग्र हो आनन्द अपरम्पार हो।।१३३।।

बुद्धिमान व्यक्तियों के द्वारा; मुक्तिरूपी साम्राज्य का मूल कारण, निरुपम, सहज परमानन्दवाले एक चैतन्यरूप भगवान आत्मा को; भली प्रकार ग्रहण किया जाना चाहिए। इसलिए हे मित्र ! मेरे वचनों के सार को सुनकर तू भी अति शीघ्र उग्ररूप से इस चैतन्य चमत्कार में अपनी बुद्धि को लगा।

उक्त छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो! टीकाकार मुनिराज प्रेम से कहते हैं कि हे सखा! हे बन्धु! तू मेरे उपदेश का सार सुनकर चैतन्यस्वरूप की ओर अपना लक्ष कर।

चैतन्यस्वरूप को लक्ष में लेना ही उपदेश का सार है। चतुर पुरुषों को तो एक सहज परमानन्दमय चिद्रूप आत्मा को ही सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना चाहिए। आत्मा का स्वरूप ही मुक्तिसाम्राज्य का मूल हैह्न

निरुपम और सहज परमानन्दवाला चिदानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा ही मोक्षसाम्राज्य का मूल है; उसकी भावना से ही मोक्ष होता है।

जो जीव ऐसे चिद्रूप आत्मा को एक को ही सम्यक् प्रकार से ग्रहण करते हैं, वे ही वास्तव में चतुर पुरुष हैं।[१]

यहाँ 'हे सखा!' ह्न ऐसा कहकर सम्बोधन किया है अर्थात् हमें तो चैतन्य के ग्रहण से प्रत्याख्यान वर्तता है और हमारा उपदेश सुनकर तुम भी अपना लक्ष चैतन्य में करो; ऐसा करने पर हम और तुम समान हो जायेंगे।[२]''

उक्त छन्द के माध्यम से टीकाकार मुनिराज अपने शिष्यों को, अपने पाठकों को अथवा हम सभी को प्रेरणा दे रहे हैं कि **मुक्ति को प्राप्त करने का उपाय एकमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा का अनुभव करना है, ध्यान करना है।** इसलिए मेरे कहने का सार यह है कि तुम भी मेरे समान अपनी बुद्धि को इस चैतन्यचमत्काररूप भगवान आत्मा में लगाओ। इससे तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।।१३३।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७८८ २. वही, पृष्ठ ७८८-७८९

आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा न मानकर अन्यथा मानना, अन्यथा ही परिणमन करना चाहना ही अनन्त वक्रता है। जो जिसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नहीं है, उसे उसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना ही अनन्त कुटिलता है। रागादि आस्रवभाव दु:खरूप एवं दु:खों के कारण हैं, उन्हें सुखस्वरूप एवं सुख का कारण मानना; तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना; संसार में रंचमात्र भी सुख नहीं है, फिर भी उसमें सुख मानना एवं तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना ही वस्तुत: कुटिलता है, वक्रता है। इसीप्रकार वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा न मानकर, उसके विरुद्ध मानना एवं वैसा ही परिणमन करना चाहना विरूपता है। **ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ५०-५१**

नियमसार गाथा ९९

अब इस गाथा में सभी विभावभावों से संन्यास की विधि समझाते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे।।९९।।

(हरिगीत)

छोड़कर ममभाव निर्ममभाव में मैं थिर रहूँ।
बस स्वयं का अवलम्ब ले अवशेष सब मैं परिहरूँ।।९९।।

मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थित रहता हूँ। मेरा अवलम्बन तो एकमात्र आत्मा है, इसलिए शेष सभी को विसर्जित करता हूँ, छोड़ता हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ सकल विभाव के संन्यास की विधि कही है।

मैं सुन्दर कामिनी और कंचन (सोना) आदि सभी परद्रव्य, उनके गुण और पर्यायों के प्रति ममत्व को छोड़ता हूँ। परमोपेक्षा लक्षण से लक्षित निर्ममत्व आत्मा में स्थित होकर तथा आत्मा का अवलम्बन लेकर संसाररूपी स्त्री के संयोग से उत्पन्न सुख-दु:खादि अनेक विभाव रूप परिणति को छोड़ता हूँ।''

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जगत में स्त्री और कंचन को मुख्य परिग्रह माना जाता है, अत: यहाँ उसी की मुख्यता से बात की है। वास्तव में तो सम्मेदशिखर आदि तीर्थ अथवा देव-शास्त्र-गुरु भी परद्रव्य हैं, अत: मैं उनकी भी ममता छोड़ता हूँ; क्योंकि **परद्रव्य के प्रति ममता रहने पर राग का प्रत्याख्यान नहीं होता।**[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७९२

पर से अत्यन्त उपेक्षित होने को कहा और साथ ही आत्मा का अवलम्बन लेने को कहा ह्न इसप्रकार अस्ति-नास्ति से बात की है।[१]

चैतन्य का अवलम्बन लेकर स्थिर होने पर विभावपरिणति उत्पन्न ही नहीं होती, तब 'मैं उसको छोड़ता हूँ' ह्न ऐसा कहा जाता है। **आत्मा का अवलम्बन लेने पर वीतरागी परिणति होती है और रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती ह्न इसी का नाम प्रत्याख्यान है।**[२]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में सम्पूर्ण विभावभावों से संन्यास लेने की विधि बताई गई है। सारा जगत कंचन-कामिनी आदि परद्रव्यों में ही उलझा हुआ है। यहाँ ज्ञानी संकल्प करता है कि मैं इन कंचन-कामिनी आदि सभी परद्रव्यों से, उनके गुणों और पर्यायों से ममता तोड़ता हूँ और निर्ममत्व होकर अपने आत्मा में ही अपनापन स्थापित करके उसी में समा जाने को तैयार हूँ।।९९।।

इसके बाद **तथा चोक्तं श्रीमद्मृतचन्द्रसूरिभि: ह्न** तथा अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है ह्न कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनय: संत्यशरणा:।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परममृतं तत्र निरता:।।५०।।[३]

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में।।
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते।।५०।।

सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) ह्न सभी प्रकार के कर्मों का निषेध किये जाने पर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तमान निवृत्तिमय जीवन जीनेवाले

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७९२ २. वही, पृष्ठ ७९२ ३. समयसार, कलश १०४

मुनिजन कहीं अशरण नहीं हो जाते; क्योंकि निष्कर्म अवस्था में ज्ञान में आचरण करता हुआ, रमण करता हुआ, परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनिराजों की परम शरण है। वे मुनिराज स्वयं ही उस ज्ञानस्वभाव में लीन रहते हुए परमामृत का पान करते हैं, अतीन्द्रियानन्द का अनुभव करते हैं, स्वाद लेते हैं।

शुभभाव को ही धर्म माननेवालों को यह चिन्ता सताती है कि यदि शुभभाव का भी निषेध करेंगे तो मुनिराज अशरण हो जावेंगे, उन्हें करने के लिए कोई काम नहीं रहेगा। आत्मा के ज्ञान, ध्यान और श्रद्धानमय वीतरागभाव की खबर न होने से ही अज्ञानियों को ऐसे विकल्प उठते हैं; किन्तु शुभभाव होना कोई अपूर्व उपलब्धि नहीं है; क्योंकि शुभभाव तो इस जीव को अनेक बार हुए हैं, पर उनसे भव का अन्त नहीं आया।

यदि शुभभाव नहीं हुए होते तो यह मनुष्य भव ही नहीं मिलता। यह मनुष्य भव और ये अनुकूल संयोग ही यह बात बताते हैं कि हमने पूर्व में अनेक प्रकार के शुभभाव किये हैं; पर दु:खों का अन्त नहीं आया है।

अत: एक बार गंभीरता से विचार करके यह निर्णय करें कि शुभभाव में धर्म नहीं है, शुभभाव कर्तव्य नहीं है; **धर्म तो वीतरागभावरूप ही है और एकमात्र कर्तव्य भी वही है।**

वे वीतरागभाव आत्मा के आश्रय से होते हैं; अत: अपना आत्मा ही परमशरण है। **जिन मुनिराजों को निज भगवान आत्मा का परमशरण प्राप्त है, उन्हें अशरण समझना हमारे अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है॥५०॥**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियेच्छो
भवजलधिसमुत्थं मोहयाद:समूहम्।
कनकयुवतिवांच्छामप्यहं सर्वशक्त्या
प्रबलतरविशुद्धध्यानमय्या त्यजामि॥१३४॥

(हरिगीत)

मन-वचन-तन व इंद्रियों की वासना का दमक मैं।
भव उदधि संभव मोह जलचर और कंचन कामिनी॥
की चाह को मैं ध्यानबल से चाहता हूँ छोड़ना।
निज आतमा में आतमा को चाहता हूँ जोड़ना॥१३४॥

मन-वचन-काय संबंधी व समस्त इन्द्रियों संबंधी इच्छा को नियंत्रण करनेवाला मैं अब भवसागर में उत्पन्न होनेवाले मोहरूपी जलचर प्राणियों के समूह को तथा कनक और कामिनी की इच्छा को अति प्रबल विशुद्ध ध्यानमयी सर्वशक्ति से छोड़ता हूँ।

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ तो जिसे आत्मा का भान हुआ है, वह जीव प्रत्याख्यान करते हुए कहता है कि मैंने मन-वचन-काय और इन्द्रियों सम्बन्धी समस्त इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् उनकी ओर का लक्ष्य छोड़ दिया है। ऐसा मैं अब भवसागर में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष-मोहरूपी जलचर प्राणियों को आत्मध्यान के बल से छोड़ता हूँ तथा अतिविशुद्ध आत्मध्यान के बल से कनक और कामिनियों की वांछा को भी छोड़ता हूँ। चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने पर समस्त परद्रव्य की वांछा छूट जाती है, उसी का नाम प्रत्याख्यान है।[१]''

इस कलश में प्रतिक्रमण करने वाले वीतरागी सन्तों की भावना को प्रस्तुत किया गया है। प्रतिक्रमण करनेवाला बड़े ही आत्मविश्वास से कह रहा है कि मैंने मन-वचन-काय संबंधी व पाँच इन्द्रियों संबंधी इच्छा पर नियंत्रण कर लिया है और अब मैं संसार समुद्र में उत्पन्न मोहरूपी खूँखार जलचर प्राणियों के समूह को तथा कंचन-कामिनी की इच्छा को अत्यन्त प्रबल ध्यान के सम्पूर्ण बल से छोड़ता हूँ।

यहाँ खूँखार जलचर द्वेष के और कंचन-कामिनी की इच्छा राग की प्रतीक है। मिथ्यात्व का तो वे नाश कर ही चुके हैं; अब जो थोड़े-बहुत राग-द्वेष बचे हैं, उनका नाश करने की तैयारी है॥१३४॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७९४

नियमसार गाथा १००

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि सर्वत्र एकमात्र आत्मा ही उपादेय है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।१००।।

(हरिगीत)

मम ज्ञान में है आतमा दर्शन चरित में आतमा।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान में भी आतमा।।१००।।

वस्तुत: मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन में आत्मा है तथा चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में आत्मा है और मेरे योग (शुद्धोपयोग) में आत्मा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में 'सर्वत्र आत्मा उपादेय है' ह्न ऐसा कहा गया है।

वस्तुत: आत्मा अनादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाला, शुद्ध, सहज सौख्यात्मक है। सहजचेतनारूप से परिणमित मुझमें और मेरे सम्यग्ज्ञान में वह आत्मा है। पूजितपरमपंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत पंचमभाव (परमपारिणामिकभाव) की भावनारूप से परिणमित मुझमें और मेरे सहज सम्यग्दर्शन में वह आत्मा है।

साक्षात् निर्वाण प्राप्ति के उपायभूत निजस्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज परमचारित्र परिणतिवाले मुझमें और मेरे सहज चारित्र में भी वह परमात्मा सदा सन्निहित है।

सदा सन्निहित शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दु:ख ह्न इन छह भावों से संपूर्ण संन्यासात्मक, परद्रव्य से परांगमुख, पंचेन्द्रिय विस्तार से रहित, भेदविज्ञानी और देहमात्र परिग्रहवाले मुझमें और मेरे निश्चय प्रत्याख्यान में वह आत्मा सदा निकट ही विद्यमान है।

सहज वैराग्य के महल के शिखर का शिरोमणि, स्वरूपगुप्त और पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि समान जो मैं; उसमें और मेरे शुभाशुभ संवर में वह आत्मा है।

अशुभोपयोग से परांगमुख और शुभोपयोग के प्रति उदासीन और साक्षात् शुद्धोपयोग के सन्मुख जो मैं, जिसके मुख से परमागमरूपी मकरंद सदा झरता है ह्न ऐसे पद्मप्रभ (पद्मप्रभमलधारिदेव) के शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा विद्यमान है; क्योंकि वह परमात्मा सनातन स्वभाववाला है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ज्ञानी कहता है कि वास्तव में मेरे ज्ञान में आत्मा है अर्थात् मेरा ज्ञान आत्मा के आश्रय से ही होता है। सम्यग्दर्शन में भी आत्मा है अर्थात् सम्यग्दर्शन का ध्येय आत्मा ही है। चारित्र में भी आत्मा ही है, आत्मा के आश्रय बिना चारित्र नहीं होता। इसीप्रकार प्रत्याख्यान, संवर, शुद्धोपयोग आदि सभी में शुद्धात्मा का ही आश्रय है; इसलिए आत्मा ही सर्वत्र उपादेय है।[१]

प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात करके फिर प्रत्याख्यान की बात की; क्योंकि उन तीनों के सहित ही प्रत्याख्यान होता है। यहाँ मुनि के प्रत्याख्यान की बात है।[२]

देखो तो सही! मुनि स्वयं अपने को लक्ष करके कहते हैं कि मैं सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि हूँ, स्वरूपगुप्त हूँ और पापरूपी वन को जलाने के लिए प्रचण्ड अग्नि के समान हूँ। मेरे शुभाशुभ के संवर में भी परमात्मा ही है। अहो! एक परमशुद्ध आत्मा ही मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, प्रत्याख्यान व संवर में है। **शुभ और अशुभ भाव के संवर में आत्मा है अर्थात् आत्मा के आश्रय में एकाग्र होने पर शुभाशुभभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती, उसका नाम संवर है।**[३]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७९६
२. वही, पृष्ठ ७९९
३. वही, पृष्ठ ८०१

अशुभ से तो मैं पराङ्मुख हूँ; शास्त्ररचना आदि का शुभविकल्प वर्तता है, उससे भी मैं उदासीन हूँ और साक्षात् शुद्धोपयोग के सन्मुख हूँ तथा परमागमरूपी अमृतरस जिसके मुखकमल में से झरता है ह्न ऐसा हूँ मैं पद्मप्रभ, उसके शुद्धोपयोग में भी परमात्मा ही वर्तता है। हमारे मुख में से जो वाणी निकली, वही परमागमरूपी पुष्प का रस है।

देखो तो मुनि के आत्मा का जोर! केवलज्ञान नहीं है, मति-श्रुतज्ञान है; उसके जोर से कहते हैं कि हमारे मुख में से जो वाणी झरती है, वह परमागम है। जो बात टीका में है, वही बात केवली भगवान की वाणी में और कुन्दकुन्दाचार्य के हृदय में रहती है। मुनि स्वयं आत्मा की साक्षी से कहते हैं कि हमारी वाणी ही परमागम है, वह त्रिकाल में भी फिरनेवाली नहीं है। ऐसा जो मैं पद्मप्रभ मुनि हूँ, उसके शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा रहता है। शुद्धोपयोगपर्याय आत्मा के साथ अभेद हो जाती है, अतः उसमें आत्मा ही है; क्योंकि वह परमात्मा सनातन-स्वभाववाला है। ध्रुव चैतन्यदल त्रिकाल पड़ा है; वही उपादेय है। उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र है तथा सच्चा प्रत्याख्यान है। उसके आश्रय से ही संवर और सच्चा योग है। ऐसे आत्मा के भान बिना ये सम्यग्दर्शनादि एक भी नहीं होते।[१]''

यह गाथा और उसकी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनमें कहा गया है कि सन्तों को तो सर्वत्र एक आत्मा ही उपादेय है। आचार्य कुंदकुंद और टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव उत्तम पुरुष में बात करके ऐसा कह रहे हैं कि मुझमें और मेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप में; तथा प्रत्याख्यान और शुद्धोपयोग में एकमात्र आत्मा ही है, उसी की मुख्यता है।

यद्यपि पद्मप्रभमलधारिदेव का यह कथन कि **हमारे मुख से परमागम का मकरंद झरता है,** कुछ गर्वोक्ति जैसा लगता है; तथापि **यह उनका आत्मविश्वास ही है; जो उनके आध्यात्मिकरस को व्यक्त करता है।।१००।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ** ह्न तथा

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८०१-८०२

एकत्वसप्तति में भी कहा है ह्न ऐसा कहकर तीन छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

(अनुष्टुभ्)

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः।।५१।।[१]

नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम्।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्।।५२।।[२]

आचारश्च तदेवैकं तदैवावश्यकक्रिया।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः।।५३।।[३]

(दोहा)

वही एक मेरे लिए परमज्ञान चारित्र।
पावन दर्शन तप वही निर्मल परम पवित्र।।५१।।

सत्पुरुषों के लिए वह एकमात्र संयोग।
मंगल उत्तम शरण अर नमस्कार के योग्य।।५२।।

योगी जो अप्रमत्त हैं उन्हें एक आचार।
स्वाध्याय भी है वही आवश्यक व्यवहार।।५३।।

वही (चैतन्यज्योति) एक परमज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है।

सत्पुरुषों को वही एक नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक शरण है।

अप्रमत्त योगियों के लिए वही एक आचार, वही एक आवश्यक क्रिया है और वही एक स्वाध्याय है।

स्वामीजी इन छन्दों का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यज्योति में अन्तर्दृष्टि करने से ही सम्यग्ज्ञान है; अतः वही एक परमज्ञान है। शास्त्र या पुण्य के आश्रय से सम्यग्ज्ञान

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, श्लोक ३९
२. वही, श्लोक ४०
३. वही, श्लोक ४१

नहीं है, सम्यग्ज्ञान का अवलम्बन तो अन्तर में विद्यमान ध्रुव चैतन्यतत्त्व ही है; इसलिए **वह चैतन्यज्योति ही एक परमज्ञान है, वही एक पवित्रदर्शन है। अन्तर में चैतन्य की प्रतीति होना ही सम्यग्दर्शन है, इसके अलावा बाह्यपदार्थों के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं है। परमचैतन्यतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है और उसमें लीनता ही चारित्र है अर्थात् अभेदपने वही एक चारित्र है,** रागादिभाव चारित्र नहीं हैं तथा वह चैतन्यज्योति ही एक निर्मल तप है। ज्ञानानन्द में लीनता होने पर इच्छा का अभाव हो जाता है, वही तप है। वह तप आत्मा के आधार से है।[१]

पर को नमस्कार करना तो पुण्य है। पुण्य-पाप से हटकर आत्मा के चिदानन्दस्वरूप में रम जाना ह्न ढल जाना ह्न लीन हो जाना परमार्थ नमस्कार है अर्थात् नमस्कार करने योग्य तो सहज चिदानन्दस्वरूप ही है। जैनदर्शन में व्यवहार से नमस्कार करने योग्य तो श्री अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ह्न ये पंचपरमेष्ठी ही हैं और परमार्थ से **अपना आत्मा ही नमस्कार करने योग्य है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें लीन होना ही नमस्कार है।**[२]

चैतन्य ही एक मंगल है। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म को मंगलरूप कहना व्यवहार है। अपने लिए तो अपना चैतन्यमूर्ति आत्मा ही मांगलिक है, उसका आश्रय करने पर पाप गल जाता है और पवित्रता प्रगट होती है। आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मंगलदशा प्रगट होती है।[३]

भगवान आत्मा ही एक उत्तम है। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म ह्न इन चार को उत्तम कहना तो व्यवहार है, उसमें शुभराग है। वास्तव में परद्रव्य अपने लिए उत्तम नहीं, **अपने लिए तो सबसे उत्तम अपना आत्मा ही है;** क्योंकि आत्मा के ही आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि प्रगट होते हैं, पर के आश्रय से नहीं। लोक में आत्मद्रव्य ही उत्तम है।[४]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८०२-८०३
२. वही, पृष्ठ ८०३-८०४
३. वही, पृष्ठ ८०४
४. वही, पृष्ठ ८०४-८०५

वह चैतन्य ही एक शरण है। 'अरिहन्ते शरणं' आदि कहना तो शुभभाव है, वास्तव में चैतन्य को पर की शरण नहीं है। लोग कहते हैं कि तुमको अरिहन्त का शरण होवे, सिद्ध का शरण होवे; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि **हाजिरहजूर चैतन्यभगवान ही वास्तविक शरण है, उसे सँभाल!** इसके अतिरिक्त बाहर कोई शरण नहीं है। चैतन्य की शरण में आने पर ही धर्म होगा। अरिहन्त के लक्ष्य से शुभभाव होगा, धर्म नहीं और वह शुभभाव आत्मा को शरणभूत नहीं है।[१]

चैतन्य में जो स्थिर हुआ है ह्न ऐसे अप्रमत्त योगी को आत्मा ही एक आचार है। मुनियों को पंचमहाव्रतादि तो व्यवहार से आचार है, वास्तव में चैतन्य में लीनता ही एक आचार है।[२]

आत्मा में स्थिर होना ही निश्चय से आवश्यक क्रिया है, अवश्य करने योग्य है।[३]

वही एक स्वाध्याय है। स्व अर्थात् **चैतन्यस्वरूप निजात्मा, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके लीनता करना ही परमार्थ से स्वाध्याय है।** शास्त्र का वाँचन आदि व्यवहार स्वाध्याय है, शुभराग है। परमार्थ से तो आत्मा ही स्वाध्याय है। कुल ग्यारह बोल हुये :ह्न

आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, तप है; आत्मा ही नमस्कार योग्य है, मंगल है, उत्तम है, शरण है, आत्मा ही आचार है, षडावश्यक क्रिया है और स्वाध्याय है। इनमें आवश्यक के छह बोल अलग गिनें तो कुल सोलह बोल होते हैं। ये सभी बोल निश्चय से एक आत्मा में ही समा जाते हैं।[४]''

उक्त तीनों छन्दों में यह तो कहा ही गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ह्न ये सब एक आत्मा ही हैं; साथ में यह भी कहा गया है कि नमस्कार करने योग्य भी एक आत्मा ही है; मंगल, उत्तम और शरण भी एक आत्मा ही है; षट् आवश्यक, आचार

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८०५
२. वही, पृष्ठ ८०६
३. वही, पृष्ठ ८०६
४. वही, पृष्ठ ८०७

और स्वाध्याय भी एक आत्मा ही है। यह सम्पूर्ण कथन शुद्ध निश्चयनय का कथन है। इसे इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए।।५१-५३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द स्वयं लिखते हैं, जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

मम सहजसुदृष्टौ शुद्धबोधे चरित्रे
सुकृतदुरितकर्मद्वन्दसंन्यासकाले।
भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोऽप्यन्योस्ति मुक्त्यै पदार्थः।।१३५।।

(हरिगीत)

इक आतमा ही बस रहा मम सहज दर्शन-ज्ञान में।
संवर में शुध उपयोग में चारित्र प्रत्याख्यान में।।
दुष्कर्म अर सत्कर्म ह्न इन सब कर्म के संन्यास में।
मुक्ति पाने के लिए अन कोई साधन है नहीं।।१३५।।

मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्ध ज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृत रूपी कर्मद्वन्द्व के संन्यास काल में अर्थात् प्रत्याख्यान में, संवर में और शुद्ध योग अर्थात् शुद्धोपयोग में एकमात्र वह परमात्मा ही है, क्योंकि ये सब एक निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं। **मुक्ति की प्राप्ति के लिए जगत में अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है, नहीं है।**

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मेरे चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी मुझे मेरी मुक्ति के लिए शरणभूत नहीं है। सहज सम्यग्दर्शन का विषयभूत जो परमात्मा है, वही एक मेरी मुक्ति का कारण है। उसी के अवलम्बन से शुद्ध ज्ञान, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, शुद्धोपयोगादि में परमात्मा का ही आश्रय है।[१]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८०८

इस छन्द में भी मूल गाथा, उसकी टीका और उद्धृत छन्दों में जो बात कही गई है, उसी को दुहराया गया है। अन्त में कहा गया है कि **मुक्ति प्राप्त करने के लिए एक भगवान आत्मा ही एकमात्र आधार है; अन्य कोई पदार्थ नहीं। नहीं है, नहीं है; दो बार लिखकर अपनी दृढता को प्रदर्शित किया है।** साथ में जगत को भी चेताया है कि यहाँ-वहाँ भटकने से क्या होगा, एकमात्र निज भगवान आत्मा की शरण में आओ, उसमें अपनापन स्थापित करो; उसे ही निजरूप जानो, उसमें ही जम जावो, रम जावो।।१३५।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत्।
तदेव निजबोधदीपनिहताघभूछायकं
सतां हृदयपद्मसद्मनि च संस्थितं निश्चलम्।।१३६।।

(भुजंगप्रयात)

किया नष्ट जिसने है अघतिमिर को,
रहता सदा सत्पुरुष के हृदय में।
कभी विज्ञजन को निर्मल अनिर्मल,
निर्मल-अनिर्मल देता दिखाई।।
जो नष्ट करता है अघ तिमिर को,
वह ज्ञानदीपक भगवान आतम।
अज्ञानियों के लिए तो गहन है,
पर ज्ञानियों को देता दिखाई।।१३६।।

जिसने पापतिमिर को नष्ट किया है और जो सत्पुरुषों के हृदयकमल रूपी घर में स्थित है; वह निजज्ञानरूपी दीपक अर्थात् भगवान आत्मा कभी निर्मल दिखाई देता है, कभी अनिर्मल दिखाई देता है और कभी निर्मलानिर्मल दिखाई देता है। इसकारण अज्ञानियों के लिए गहन है।

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''स्वभाव की तरफ देखने पर निर्मल है, स्वभाव और पर्याय दोनों को साथ में देखने पर निर्मल-अनिर्मल दोनों एक साथ दिखाई पड़ते हैं और पर्याय को देखने पर विकारी दिखाई पड़ता है।

ऐसे तीन प्रकार हुये ह्न द्रव्यदृष्टि से निर्मल, प्रमाण से निर्मल-अनिर्मल दोनों एक साथ और पर्याय में अनिर्मल। इनमें से निर्मलस्वभाव के ऊपर जिसकी दृष्टि हुई, उसी को प्रत्याख्यान होता है; परन्तु अभी साधकदशा होने से पर्याय में मलिनता भी है।

ऐसा आत्मतत्त्व अज्ञानियों के लिए गहन है। जिसे ऐसे आत्मा का भान नहीं है, उसे प्रत्याख्यान नहीं होता।[१]

पर्याय में मलिनता और उसीसमय स्वभाव से निर्मल ह्न ऐसा आत्मतत्त्व समझना अज्ञानियों के लिए कठिन है, किन्तु ज्ञानियों के हृदयकमलरूपी गृह में वह निजज्ञानरूपी दीपक निश्चलपने संस्थित है। ज्ञानियों के हृदय में भगवान आत्मा बसता है। ज्ञान दीपक स्थिर हो, पुण्य-पाप की वृत्ति से कम्पायमान न हो; उसका नाम प्रत्याख्यान है। हाथ जोड़ने से प्रत्याख्यान नहीं होता। देह तो अचेतन है, ज्ञानदीपक देह से भिन्न है। देह से भिन्न केवल चैतन्य का जिसको भान वर्तता है, उस सत्पुरुष को उसमें लीनता होने पर प्रत्याख्यान होता है।[२]''

इस कलश में यह बताया गया है कि परमशुद्धनिश्चयनय या परम-भावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय से यह भगवान आत्मा एकाकार अर्थात् अत्यन्त निर्मल ही है और व्यवहारनय या पर्यायार्थिकनय से यह आत्मा अनेकाकार अर्थात् मलिन ही है। **प्रमाण की अपेक्षा एकाकार भी है और अनेकाकार भी है, निर्मल भी है और मलिन भी है।**

उक्त नय कथनों से अपरिचित अज्ञानी जनों को अनेकान्तस्वभावी आत्मा का स्वरूप ख्याल में ही नहीं है; पर नयपक्षों से भलीभाँति परिचित आत्मानुभवी ज्ञानी जन उक्त भगवान आत्मा के स्वरूप से भलीभाँति परिचित हैं और इसकी आराधना में निरंतर संलग्न रहते हैं।।१३६।।●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१० २. वही, पृष्ठ ८१०

नियमसार गाथा १०१

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि यह आत्मा संसार और मुक्त ह्न दोनों अवस्थाओं में असहाय ही है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ।।१०१।।

(हरिगीत)

अकेला ही मरे एवं जीव जन्मे अकेला।
मरण होता अकेले का मुक्त भी हो अकेला।।१०१।।

जीव अकेला मरता है और अकेला ही जन्मता है तथा अकेले का मरण होता है और रजरहित होता हुआ अकेला सिद्धदशा को प्राप्त करता है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में ऐसा कहते हैं कि संसारावस्था में और मुक्ति में जीव नि:सहाय है।

नित्यमरण में अर्थात् प्रतिसमय होनेवाले आयुकर्म के निषेकों के क्षय में और उस भव संबंधी मरण में अन्य किसी की सहायता बिना व्यवहार से अकेला ही मरता है।

सादि-सान्त मूर्तिक विजातीय विभावव्यंजनपर्यायरूप नर-नारकादि पर्यायों की उत्पत्ति में आसन्न अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के कथन से जीव अकेला स्वयं ही जन्मता है। सर्व बन्धुजनों के द्वारा सुरक्षा किये जाने पर भी महाबल पराक्रमवाले जीव का अकेले ही, अनिच्छित होने पर भी स्वयमेव मरण होता है। अकेला ही परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त स्वात्माश्रित निश्चय शुक्लध्यान के बल से निज आत्मा को ध्याकर रजरहित होता हुआ शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करता है।''

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ पहले ही मरण की बात करके उसके दो प्रकार कहे :ह्न एक नित्यमरण जो क्षण-क्षण सर्व जीवों के हो रहा है और दूसरा भवसम्बन्धी मरण अर्थात् देह का संयोग छूट जाना ह्न दोनों में जीव अकेला ही है।[१]

मरण के बिस्तर पर पड़ा हो, चारों तरफ कुटुम्बीजन खड़े हों; तथापि जीव को मरण से कोई बचा नहीं सकता। शरीर की पर्याय जिस समय छूटनेवाली है, उस समय में आगा-पीछा नहीं हो सकता। **चक्रवर्ती के शरीररक्षक सोलह हजार देव सेवा में खड़े हों तो भी आयुष्य पूर्ण होने पर जीव अकेला ही मरता है।**

जीव स्वयं ही महाबल-पराक्रमवाला है, यदि पुरुषार्थ करे तो क्षण में केवलज्ञान लेवे ह्न ऐसा पराक्रमी होने पर भी तथा चारों तरफ से बन्धुजनों द्वारा रक्षित होने पर भी और जीव की इच्छा न होने पर भी जीव का अकेले ही स्वयमेव मरण होता है। इन्द्र आ जावे तो भी उसकी सहायता करने में समर्थ नहीं है।

अहो! त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के साथ ही तेरा एकता का सम्बन्ध है, वह कभी छूटनेवाला नहीं है; इसलिए उसकी पहिचान कर। यह शरीर तो तेरी चैतन्यजाति से भिन्न है, उसका संयोग क्षण में छूट जायेगा। चैतन्य को सँभाल, वही सदा शरण है; उसी के आश्रय से चारित्र और मुक्ति होने पर जन्म-मरण रहेगा नहीं, इसलिए पर की उपेक्षा करके स्वस्वभाव के सन्मुख होने का प्रयत्न कर।[२]

धर्म प्राप्त करने की जिसकी योग्यता हुई, उसके ऊपर परमगुरुओं की प्रसन्नता हुई। धर्म पानेवाले को ज्ञानी गुरु मिले बिना नहीं रहता।[३]

मुनियों को संथारा में दूसरे मुनि सहायता करते हैं ह्न ऐसा निमित्त से कथन होता है; परन्तु वे मुनि स्वयं अपने आत्मबल से समाधि करें तो समाधि होती है, अन्यथा नहीं होती। भले ही अन्य मुनिगण उपस्थित हों, तथापि समाधिमरण करने में तो जीव अकेला ही है।

ऐसा सिद्धान्त समझे तो परसहाय की अपेक्षा न रखते हुए, पर से

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१३ २. वही, पृष्ठ ८१४-८१५ ३. वही, पृष्ठ ८१५

भिन्न अकेले आत्मा को जानकर, उसमें एकाग्र होने पर प्रत्याख्यान हो और जन्म-मरण का दुःख मिट जाय। आत्मा स्वयं ही जन्म-मरण करता है और स्वयं ही निर्वाण पाता है।[१]''

इस गाथा और उसकी टीका के संदर्भ में विचारणीय बिन्दु ये हैं कि गाथा में **जीवदि** पद का प्रयोग है, जिसका सीधा-सच्चा अर्थ **जीता है** होता है, **जिन्दा रहना** होता है; पर यहाँ इसका अर्थ जन्मना ह्न जन्म लेना किया है। यदि **जीवदि** का अर्थ जिन्दा रहना माने तो यहाँ **जीवन-मरण** ह्न ऐसी जोड़ी बनती है; परन्तु **जीवदि** का जन्मता है ह्न यह अर्थ करने से जन्म-मरण ह्न ऐसी जोड़ी बनी।

गाथा की ऊपर की पंक्ति में **मरदि** पद का प्रयोग है और नीचे की पंक्ति में **मरणं जादि** कहा गया है। **मरदि** का अर्थ **मरता है** होता है और **मरणं जादि** का अर्थ **मरण होता है** या **मरण को प्राप्त होता है** होता है।

यद्यपि बात लगभग एक ही है; तथापि यहाँ दो जोड़े बनाये गये हैं। पहला जन्म-मरण का और दूसरा मरण होने व मुक्त होने का।

इसप्रकार गाथा का अर्थ यह होता है कि जीव जन्म-मरण में अकेला है और मरण तथा मुक्ति में भी अकेला ही है।

टीका में मरण पद के भी दो प्रकार बताये गये हैं। पहला **मरण** और दूसरा **नित्यमरण।** एक देह को छोड़कर दूसरी देह धारण करने को **मरण** और प्रतिसमय आयुकर्म के निषेकों के खिरने को, प्रतिसमय आयु के क्षीण होने को **नित्यमरण** कहा है।

मरण और मुक्ति में यह अन्तर है कि एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करने को **मरण** और देह के बंधन से सदा के लिए मुक्त हो जाने को **मुक्ति** कहते हैं।

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका का भाव यही है कि यह आत्मा जन्म से लेकर मरण तक के सभी प्रसंगों में तथा संसारभ्रमण और मुक्ति प्राप्त करने में सर्वत्र अकेला ही है; कहीं भी किसी का किसी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१६

भी प्रकार का कोई सहयोग संभव नहीं है। अत: हमें पर की ओर देखने का भाव छोड़कर स्वयं ही अपने हित में सावधान होना चाहिए।।१०१।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथा चोक्तम्** ह्न तथा कहा भी है ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते।।५४।।

(दोहा)

स्वयं करे भोगे स्वयं यह आतम जग माँहि।
स्वयं रुले संसार में स्वयं मुक्त हो जाँहि।।५४।।

यह आत्मा स्वयं ही कर्म करता है और उसका फल भी स्वयं ही भोगता है। स्वयं संसार में घूमता है और स्वयं ही संसार से मुक्त हो जाता है।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जीव का न तो कोई विरोधी है और न कोई सहायक है। कर्म का उदय जीव को रागादि कराता हो ह्न ऐसा भी नहीं है। जीव अकेला ही रागादिक करता है और स्वयं ही उसका फल भी भोगता है।

जिसप्रकार संसार में अकेला ही भटकता है, उसीप्रकार आत्मभान करके मुक्त भी अकेला ही होता है।

हजारों मनुष्यों के बीच में हो; तथापि जो भाव करता है, वह स्वयं अकेला ही करता है और उसका फल भी स्वयं अकेला ही भोगता है। ऐसे स्वभाव के भान बिना प्रत्याख्यान नहीं होता।[१]''

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि यह आत्मा अपने परिणामों को स्वयं अकेला ही करता है और उनके सुख-दु:खरूप फल को स्वयं ही भोगता है। **स्वयं की गलती से संसार में अकेला भटकता है और स्वयं अपनी गलती सुधार कर मुक्त भी हो जाता है।**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१६

इसलिए पर से सहयोग की आकांक्षा छोड़कर हमें स्वयं अपने कल्याण के मार्ग में लगना चाहिए।।५४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **उक्तं च श्री सोमदेवपंडितदेवै: ह्न** पण्डित सोमदेव के द्वारा भी कहा गया है ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुखदु:खविधौ सहाय:
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते।।५५।।[१]

(वीर)

जनम-मरण के सुख-दुख तुमने स्वयं अकेले भोगे हैं।
मात-पिता सुत-सुता बन्धुजन कोई साथ न देते हैं।।
यह सब टोली धूर्तजनों की अपने-अपने स्वारथ से।
लगी हुई है साथ तुम्हारे पर न कोई तुम्हारे हैं।।५५।।

स्वयं किये गये कर्म के फलानुबंध को स्वयं भोगने के लिए तू अकेला ही जन्म और मृत्यु में प्रवेश करता है। अन्य कोई स्त्री-पुत्र-मित्रादि सुख-दु:ख में सहायक नहीं होते, साथी नहीं होते। ये सब ठगों की टोली मात्र अपनी आजीविका के लिए तुझे मिली है।

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अहो! यहाँ आत्मा का एकत्वस्वरूप बताते हुए वैराग्यवर्णन करते हैं। स्वयं जैसा शुभाशुभ कर्म किया, उसके फल को भोगने के लिए जीव अकेला ही जन्म और मरण में प्रवेश करता है।[२]

सैकड़ों हरिणों की टोली में सिंह आकर एक को पकड़े, वहाँ अन्य सभी क्या करें? उसीप्रकार आत्मा को भी जन्म-मरण में कोई माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि बिल्कुल सहायभूत नहीं होते। यह तो सब

१. यशस्तिलकचंपूकाव्य, द्वितीय अधिकार, श्लोक ११९ २. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१८

अपनी-अपनी आजीविका आदि को साधने के लिए तुझे धूर्त्तों की टोली मिली है अर्थात् यदि तू उनके मोह में रुकेगा तो तेरा आत्मा ठगा जायेगा, इसलिए तू अपने एकत्वस्वरूपी आत्मा को जान।

इसके बिना प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। अपने आत्मा के अतिरिक्त यदि तू अन्यत्र रुक जायेगा तो तेरी स्वरूपलक्ष्मी लुट जायेगी, इसलिए निमित्तरूप में स्त्री-पुत्रादि को धूर्त्तों की टोली कहा है।

तेरा आत्मा अनादिकाल से स्वरूप को चूककर संसार में जन्म-मरण कर रहा है, उसमें कोई तुझे शरणभूत नहीं है।[१]''

यहाँ जो कुटुम्बीजनों को धूर्तों की टोली कहा है; वह उनसे द्वेष कराने के लिए नहीं कहा है; उनसे एकत्व-ममत्व तोड़ने के लिए कहा है। वस्तुत: बात तो यह है कि वे तेरा सहयोग कर नहीं सकते। यदि वे तेरा सहयोग करना चाहें, तब भी नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्येक जीव को अपने किये कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। कोई जीव किसी दूसरे का भला-बुरा कर ही नहीं सकता।

किसी दूसरे के भरोसे बैठे रहना समझदारी का काम नहीं है। इसलिए अपनी मदद आप करो ह्न यही कहना चाहते हैं आचार्यदेव।।५५।।

इसके बाद एक छन्द टीकाकार स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्म मृत्युं च जीव:
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दु:खम्।
भूयो भुंक्ते स्वसुखविमुख: सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुत: प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन्।।१३७।।

(वीर)

जीव अकेला कर्म घनेरे उनने इसको घेरा है।
तीव्र मोहवश इसने निज से अपना मुखड़ा फेरा है।।
जनम-मरण के दु:ख अनंते इसने अबतक प्राप्त किये।
गुरु प्रसाद से तत्त्व प्राप्त कर निज में किया वसेरा है।।१३७।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१८-८१९

जीव अकेला ही प्रबल दुष्टकर्मों के फल जन्म और मरण को प्राप्त करता है। तीव्र मोह के कारण आत्मीय सुख से विमुख होता हुआ कर्मद्वन्द्व से उत्पन्न सुख-दु:ख को यह जीव स्वयं बारंबार अकेला ही भोगता है तथा किसी भी प्रकार से सद्गुरु द्वारा एक आत्मतत्त्व प्राप्त करके अकेला ही उसमें स्थित होता है।

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्य के सहज सुख को चूककर जीव अकेला ही पुण्य-पाप के फलरूप सुख-दु:ख को भोगता है। चैतन्यसुख से विमुख होनेवाले को ही पुण्यफल मिष्ट लगता है। चैतन्य को चूककर स्वर्गसुख और नरकदु:ख को पुन: पुन: जीव अकेला ही भोगता है।[१]

जीव अकेला ही गुरुगम द्वारा अपनी पात्रता से जिस-तिस प्रकार एक चैतन्यतत्त्व को पाकर उसमें लीन होता है। तुझे तू अकेला ही रुचे, जैसे भी बने ऐसा करके चैतन्यतत्त्व को प्राप्त कर। जगत से तुझे क्या काम है? गुरुगम से चैतन्यतत्त्व के पाने में तू अकेला है और उसमें स्थिर रहकर प्रत्याख्यान करने में भी अकेला है।[२]''

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि यह आत्मा अनादिकालीन तीव्र मोह के कारण आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय सुख से विमुख होकर कर्मजन्य सुख-दु:खों को अकेला ही भोग रहा है।

यदि इसे सद्गुरु के सत्समागम से आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो जावे तो यह जीव अकेला ही उसमें स्थापित हो सकता है।

स्वयं में स्थापित होना निश्चयप्रत्याख्यान है। इस निश्चय-प्रत्याख्यान का कार्य इस जीव को स्वयं ही करना होगा; क्योंकि जब जन्म-मरण में जीव अकेला ही रहता है, संसार परिभ्रमण और मुक्ति प्राप्त करने में भी अकेला ही रहता है तो फिर निश्चयप्रत्याख्यान में किसी का साथ होना कैसे संभव है ?।।१३७।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२० २. वही, पृष्ठ ८२०

नियमसार गाथा १०२

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि मेरा तो एकमात्र भगवान आत्मा ही है, अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।१०२।।

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शनमयी मेरा एक शाश्वत आतमा।
शेष सब संयोगलक्षण भाव आतम बाह्य हैं।।१०२।।

मेरा तो ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला एक शाश्वत आत्मा ही है, शेष सब संयोग लक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं, पृथक् हैं।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह एकत्वभावना से परिणत सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का निरूपण है।

समस्त संसाररूपी नंदनवन के वृक्षों की जड़ के आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए जलप्रवाह से परिपूर्ण नाली के समान वर्तता हुआ जो शरीर, उसकी उत्पत्ति में हेतभूत द्रव्यकर्म व भावकर्म से रहित होने से जो आत्मा एक है, वह त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से निरावरण ज्ञान-दर्शनलक्षण से लक्षित कारणपरमात्मा है।

वह कारणपरमात्मा समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर के विविध विकल्परूप कोलाहल से रहित, सहज शुद्ध ज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ शाश्वत रहकर मेरे लिए उपादेयरूप रहता है।

और जो शुभाशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होनेवाले शेष सभी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह हैं, वे सब अपने आत्मा से बाह्य हैं ह्न ऐसा मेरा निश्चय है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जैसे नन्दनवन सदा हरा-भरा रहता है; वैसे ही जिसे शरीर की ममता है, उसे तो संसार में जन्म-मरण होता ही रहेगा; क्योंकि उसकी शरीररूपी जलनाली संसार को नन्दनवन जैसा हरा-भरा बनाये रखेगी। जो शरीर का पोषण करेगा, वह सदा शरीर में रहेगा और अशरीरी सिद्ध कभी भी नहीं हो सकेगा।[१]

एक तरफ कारणपरमात्मा बतलाया और दूसरी तरफ शरीर बतलाया। शरीर के कारणभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित कारणपरमात्मा है; अतः आत्मा एक है।[२]

अनन्तान्तकाल से शरीर की ममता कर रहा है, परन्तु शरीर के उन अनन्त रजकणों में से एक भी परमाणु आज तक अपना नहीं हुआ। चाहे जितना परिश्रम करे, तीनकाल के परिश्रम को एकत्र करे; तथापि एक भी परमाणु अपना होनेवाला नहीं है।

हाँ, यदि आत्मा की रुचि करके आत्मा की प्राप्ति का पुरुषार्थ करे तो अल्पकाल में ही मुक्ति हुए बिना रहे नहीं।

अहो ! 'मैं देह से अत्यन्त भिन्न कारणपरमात्मा हूँ' ह्न ऐसा भान यदि न करे तो संसाररूपी नन्दनवन भी सूखनेवाला नहीं है। जैसे अशरीरी सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही मेरा आत्मा है; मेरा आत्मा शरीर से तो भिन्न है और शरीर के हेतुभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म से भी भिन्न है; इसलिए मैं तो एक हूँ, त्रिकाल एकरूप कारणपरमात्मा ही हूँ; शरीर और पुण्य-पाप तो अनेक हैं और मैं उनसे रहित एक हूँ ह्न ऐसे आत्मा की पहचान करना मुक्ति का उपाय है।[३]

चैतन्यस्वरूप के अलावा बाहर के लक्ष से जितने शुभाशुभभाव होते हैं, वे सब क्रियाकाण्ड के आडम्बर हैं। बाहर के लक्ष से तो अनेक प्रकार के विकल्प का कोलाहल होता है। चैतन्य में कोई कोलाहल है नहीं, वह तो उपशमरस का कन्द शान्त.....शान्त है, उसमें बाहर का

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२३
२. वही, पृष्ठ ८२३
३. वही, पृष्ठ ८२३

कोई आडम्बर नहीं है। मेरा आत्मा तो उस सब कोलाहल से रहित सहज शुद्ध ज्ञान-चेतना को अतीन्द्रियपने भोगता हुआ शाश्वतरूप से मेरे लिए उपादेयपने रहता है।[१]

राग-द्वेष भाव अभ्यन्तर परिग्रह हैं और बाह्य में लक्ष्मी-निर्धनता रोग-निरोग ह्न ये सब बाह्य परिग्रह हैं। वे सभी अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो शाश्वत ज्ञान-दर्शनलक्षण से लक्षित त्रिकाली कारणपरमात्मा हूँ। ह्न ऐसा मेरा निश्चय है।

ऐसा निश्चय किये बिना प्रत्याख्यान नहीं होता है।[२]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मैं ज्ञानदर्शनस्वभावी एक आत्मा हूँ, शेष जो शरीरादि संयोग हैं; वे सभी मुझसे भिन्न हैं। मेरा उनसे कोई संबंध नहीं है।

टीका में अलंकारिक भाषा में बताया गया है कि यह शरीर संसार रूपी बाग को हरा-भरा रखनेवाला है। एक ज्ञानदर्शनलक्षण से पहिचानने में आनेवाला आत्मा ह्न कारणपरमात्मा ही मैं हूँ। **अत: इन शरीरादिक संयोगों और रागादिभावरूप संयोगी भावों से भिन्न कारणपरमात्मारूप अपने आत्मा की आराधना में ही रत रहता हूँ।।१०२।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(मालिनी)

अथ मम परमात्मा शाश्वत: कश्चिदेक: ।
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्ध: ।।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्ध: ।
किमिह बहुविकल्पैर्मे फलं बाह्यभावै: ।।१३८।।

(वीर)

सदा शुद्ध शाश्वत परमातम मेरा तत्त्व अनेरा है।
सहज परम चिद् चिन्तामणि चैतन्य गुणों का बसेरा है।।
अरे कथंचित् एक दिव्य निज दर्शन-ज्ञान भरेला है।
अन्य भाव जो बहु प्रकार के उनमें कोई न मेरा है।।१३८।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२४ २. वही, पृष्ठ ८२५

मेरा परमात्मा शाश्वत है, कथंचित् एक है, सहज परम चैतन्य-चिन्तामणि है, सदा शुद्ध है और अनंत निज दिव्य ज्ञान-दर्शन से समृद्ध है। यदि मेरा आत्मा ऐसा है तो फिर मुझे बहुत प्रकार के बाह्यभावों से क्या लाभ है, क्या प्रयोजन है, उनसे कौनसा फल प्राप्त होनेवाला है? तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा से भिन्न पदार्थों से कोई लाभ नहीं है।

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मेरा आत्मा ही चैतन्यचिन्तामणि है, तो फिर बाह्य निमित्तों से अथवा विकल्पों से मुझे क्या प्रयोजन है? मैं अपने चैतन्यचिन्तामणि को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र हो जाऊँ। अरिहन्त परमात्मा भी मेरे लिए बाह्य हैं, मेरे लिए तो मेरा आत्मा ही शाश्वत है और उसी के आश्रय से मुझे लाभ है।

बाह्य समृद्धि को धर्मी अपनी नहीं मानता तथा पुण्य के भावों को भी वह अपने स्वरूप की समृद्धि नहीं मानता, यही प्रत्याख्यान है।[१]

चिन्तामणि के समक्ष चिन्तवन करने से तो जड़ सामग्री मिलती है; परन्तु धर्मी कहते हैं कि मेरे हाथ में जो चिन्तामणि है, उसमें से वह सब मिले, जो मैं चिन्तवन करूँ। इसके अलावा बाहर का कोई पदार्थ मेरा नहीं है, सारा पदार्थसमूह मेरे से बाह्य है, इसलिए मैं तो निज चिन्तामणि का चिन्तवन करता हूँ।[२]''

इस कलश में भी यही कहा गया है कि जब मेरा भगवान आत्मा ही चैतन्यचिन्तामणि है, सभी चिन्ताओं को समाप्त करनेवाला है तो फिर मैं बाह्य संयोगों से कुछ चाहने की भावना क्यों करूँ ?

मेरा यह भगवान आत्मा न केवल चैतन्य चिन्तामणि है, अपितु शाश्वत है, सदा रहनेवाला है; इन संयोग का वियोग होना तो सुनिश्चित ही है, इनसे मुझे क्या लेना-देना है ? मेरा भगवान आत्मा सदा शुद्ध है, उसमें अशुद्धि का प्रवेश ही नहीं है। अशुद्धि तो संयोगजन्य है, संयोगभावरूप है; उससे भी मेरा कोई संबंध नहीं है।।१३८।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२७ २. वही, पृष्ठ ८२७

नियमसार गाथा १०३

अब इस गाथा में अपने दोषों के निराकरण की बात करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जं किंचि मे दुच्चरितं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।।१०३।।

(हरिगीत)

मैं त्रिविध मन-वच-काय से सब दुश्चरित को छोड़ता।
अर त्रिविध चारित्र से अब मैं स्वयं को जोड़ता।।१०३।।

मेरा जो कुछ भी दुश्चरित्र है; उस सभी को मैं मन-वचन-काय से छोड़ता हूँ और त्रिविध सामायिक अर्थात् चारित्र को निराकार करता हूँ, निर्विकल्प करता हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अनागत दोषों से मुक्त होने के उपाय का कथन है।

भेदविज्ञानी होने पर भी मुझ तपोधन को पूर्व संचित कर्मों के उदय के बल से चारित्रमोह का उदय होने पर यदि कुछ दुश्चरित्र हुआ हो तो उस सभी को मैं मन-वचन-काय की संशुद्धि से छोड़ता हूँ।

यहाँ सामायिक शब्द चारित्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वह चारित्र तीन प्रकार का होता है ह्न सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना चारित्र और परिहारविशुद्धि चारित्र।

मैं उस चारित्र को निराकार करता हूँ अथवा मैं जघन्यरत्नत्रय को उत्कृष्ट करता हूँ। नव पदार्थरूप परद्रव्य के श्रद्धान-ज्ञान-आचणरूप रतनत्रय साकार अर्थात् सविकल्प है; उसे निजस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रय के स्वीकार द्वारा निराकार अर्थात् शुद्ध करता हूँ। ह्न ऐसा अर्थ है।

दूसरे प्रकार से कहें तो मैं भेदोचार चारित्र को अभेदोपचार करता हूँ तथा अभेदोपचार चारित्र को अभेदानुपचार करता हूँ।

इसप्रकार त्रिविध सामायिक (चारित्र) को उत्तरोत्तर स्वीकृत करने से सहज परमतत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र होता है। वह निश्चयचारित्र निराकारतत्त्व में लीन होने से निराकारचारित्र है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मैं चैतन्यचिन्तामणि परमात्मा हूँ, रागादिभाव मैं नहीं हूँ ह्न ऐसा प्रथम जिसने निर्णय किया हो, उसको ही रागादि का प्रत्याख्यान होता है। चैतन्य में लीन होने पर वीतरागता प्रगट होती है और रागादि दोषों का प्रत्याख्यान होता है।[१]

शुभविकल्प उठे, उसका नाम साकारचारित्र है और विकल्प छोड़कर स्वरूप में लीन होना निराकारचारित्र है।[२]

मलिनपर्याय भी त्रिकालीतत्त्व की अपेक्षा से परद्रव्य है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय भी त्रिकालीतत्त्व की अपेक्षा से परद्रव्य है, इनमें से किसी के भी आश्रय से कल्याण नहीं होता; कल्याण तो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व के आश्रय से ही होता है। प्रथम ऐसे तत्त्व का निर्णय करके पश्चात् उसमें एकाग्र होने पर मुनिदशा प्रगट होती है।[३]

यहाँ मुनिराज कहते हैं कि मैं निजपरमात्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान और एकाग्रता द्वारा व्यवहारश्रद्धान-ज्ञान और चारित्र के विकल्प को छोड़ता हूँ अर्थात् राग को छोड़कर रत्नत्रय को शुद्ध करता हूँ। साकाररत्नत्रय को निराकार करता हूँ ह्न इसका अर्थ ऐसा समझना कि साकाररत्नत्रय में जो राग है, उसे छोड़कर स्वभाव के आश्रय से वीतरागरत्नत्रय प्रगट करता हूँ। देखो ! इसका नाम प्रत्याख्यान है और ऐसा प्रत्याख्यान निजस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है।[४]

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२९
२. वही, पृष्ठ ८३०
३. वही, पृष्ठ ८३०-८३१
४. वही, पृष्ठ ८३२

अन्य रीति से कहें तो मैं भेदोपचारचारित्र को अभेदोपचार करता हूँ। भेदोपचार का अर्थ है रागवाला चारित्र, उसको टालकर अभेदोपचार चारित्र प्रगट करता हूँ। अभी अभेद की भावना है, इसलिये उसको भी उपचार कहा और उस अभेदचारित्र की भावना का विकल्प भी छोड़कर स्वरूप में निश्चल होना अभेद-अनुपचारचारित्र है। मैं अपने चारित्र को अभेद-अनुपचार करता हूँ।

इसतरह तीन प्रकार के चारित्र के उत्तरोत्तर अंगीकार करने से सहजपरमतत्त्व में अविचल स्थिरतारूप निश्चयचारित्र होता है। वह चारित्र निराकारतत्त्व में स्थित होने से निराकारचारित्र कहा जाता है। उसमें राग का विकल्प नहीं है; अतः वह मुक्ति का कारण है।

भेदरहित जो त्रिकाली चैतन्यतत्त्व है, उसको यहाँ निराकार कहा है और उसमें लीनतारूप चारित्र भी निराकार है। इसप्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों को निराकार कहा है। ऐसा निराकार वीतरागीचारित्र ही मोक्ष का कारण है।[१]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मैं शुद्धोपयोगरूप चारित्र में स्थित होता हूँ। इससे चारित्र की कमजोरी के कारण जो अस्थिरतारूप दोष रहा है, वह भी समाप्त हो जावेगा।

यह तो सुनिश्चित ही है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव और मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्रद्धान के दोष से तो मुक्त ही थे; क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा मुनिराज थे।

चारित्र में भी तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धि विद्यमान थी; किन्तु **संज्वलन कषाय के उदय के कारण जो थोड़ी-बहुत अस्थिरता रह गई थी, वे उसका भी प्रत्याख्यान करके पर्याय में भी पूर्ण शुद्ध होना चाहते थे।** इसलिए इसप्रकार के चिन्तन में रत थे कि मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा हूँ, बाह्यभावों में से कोई भी मेरा नहीं है।।१०३।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८३३-८३४

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तथा **चोक्तं प्रवचनसार व्याख्यायाम्** ह्न तथा प्रवचनसार की व्याख्या तत्त्वप्रदीपिका टीका में भी कहा है ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य।।५६।।[१]

(दोहा)

चरण द्रव्य अनुसार हो द्रव्य चरण अनुसार।
शिवपथगामी बनो तुम दोनों के अनुसार।।५६।।

चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है ह्न इसप्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं; इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु अर्थात् ज्ञानी श्रावक और मुनिराज मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

इस छन्द पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी अपने भावों को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

''भाई ! चरण द्रव्य के अनुसार होता है। द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान करके यथाशक्ति स्थिरता होते ही राग सहज ही निकल जाता है और द्रव्य के ज्ञान बिना राग यथार्थ रीति से मंद भी नहीं होता है।

आत्मा का ज्ञान चरण अनुसार होता है। जो जीव माँस भक्षण करता हो, शराब पीता हो, लंपट हो, काले-धंधे करता हो, हजारों लोगों के नुकसान का भाव रखता हो, अनीति करता हो, निंद्य कार्य करता हो; उसे तो कभी भी आत्मा का भान नहीं हो सकता, वह मुमुक्षुपने के लायक ही नहीं है; परन्तु मैं अपना हित कर सकता हूँ ह्न ऐसे वैराग्यभाववाले जीव को जितने प्रमाण में राग घटा है, उतने प्रमाण

१. प्रवचनसार, श्लोक १२

में अन्तर स्वरूप स्थिरता हुई है। जो जीव यथार्थ भानपूर्वक राग को कम करता है, उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानने का परिणाम नहीं रहता है।

इसप्रकार उक्त दोनों भाव एक दूसरे की अपेक्षा सहित है। इसलिये आत्मा का सच्चा ज्ञान करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो अथवा आत्मा के भान सहित राग को कम करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

जो जीव सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करता है; वह राग को घटाकर धीरे-धीरे शुद्धता की ओर बढ़ेगा और पूर्ण वीतरागी दशा प्रगट करेगा, इसलिये हे मुमुक्षुओ ! मोक्षमार्ग में आरोहण करो।[१]''

इसप्रकार इस कलश में कहते हैं कि द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके चरणानुयोगानुसार चारित्र धारण करना चाहिए। **यही द्रव्यानुसार चरण है।**

आत्मज्ञान के पहले जीवन में सदाचार अत्यन्त आवश्यक है। अष्ट मूलगुणों का पालन और सप्त व्यसनों का त्याग हुए बिना आत्मज्ञान होना असंभव नहीं दुःसाध्य अवश्य है, अत्यन्त दुर्लभ है। इसी को चरणानुयोगानुसार द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न : सदाचारी जीवन बिना आत्मज्ञान संभव नहीं ह्न यह कहने में आपको संकोच क्यों हो रहा है ?

उत्तर : इसलिए कि भगवान महावीर के जीव को शेर की पर्याय में ऐसा हो गया था; पर यह राजमार्ग नहीं है। **राजमार्ग तो यही है कि सदाचारी को ही आत्मज्ञान होता है।।५६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम्।
यतंते यातनाशीलयमनाशनकारणम् ।।१३९ ।।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४७०

(दोहा)

जिनका चित्त आसक्त है निज आतम के माँहि।
सावधानी संयम विषैं उन्हें मरणभय नाँहि ।।१३९।।

जिनकी बुद्धि चैतन्यतत्त्व की भावना में आसक्त है ह्न ऐसे यति यम में प्रयत्नशील रहते हैं; संयम में सावधान रहते हैं। वह यम (संयम) यातनाशील यम अर्थात् मृत्यु के नाश का कारण है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अरे जीव! यदि तू शान्ति का इच्छुक है, जन्म-मरण की यातना से छूटना चाहता है; तो ऐसी मुनिदशा प्राप्त करना ही पड़ेगी। यतिगण अपने संयम में प्रयत्नशील वर्तते हुए यातनामय यम का नाश करते हैं। जो ऐसा वीतरागी संयम प्रगट करते हैं, उनको पुनः मातृकुक्षि में अवतरित नहीं होना पड़ता, उनके दुःखमय मरण का नाश हो जाता है। अहो जीवो! एक चैतन्य ही शरण है !!

मरण से बचना हो तो उसका उपाय यह संयम है और यह संयम चैतन्यमूर्ति आत्मा के भान बिना प्रगट नहीं होता; इसलिए आत्मा को पहचानो, वही एक शरण है।[१]''

इस छन्द में यही कहा गया है कि जिनकी बुद्धि आत्मानुभव में आसक्त है; ऐसे आत्मानुभवी मुनिराज चारित्र के निर्दोष पालन में सदा सावधान रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें मृत्यु का भय नहीं सताता ।।१३९।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८३६

वस्तुतः लोक में जो कुछ भी है वह सब सत् है, असत् कुछ भी नहीं है; किन्तु लोगों का कहना है कि हमें जगत में असत्य का ही साम्राज्य दिखाई देता है, सत्य कहीं नजर ही नहीं आता। पर भाई ! यह तेरी दृष्टि की खराबी है, वस्तुस्वरूप की नहीं। सत्य कहते ही उसे हैं, जिसकी लोक में सत्ता हो। **ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ७६**

नियमसार गाथा १०४

अब इस गाथा में अंतुर्मख सन्तों की भावशुद्धि का कथन करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए।।१०४।।

(हरिगीत)

सभी से समभाव मेरा ना किसी से वैर है।
छोड़ आशाभाव सब मैं समाधि धारण करूँ।।१०४।।

सभी जीवों के प्रति मुझे समताभाव है, मेरा किसी के साथ बैर नहीं है। वस्तुत: मैं आशा को छोड़कर समाधि को प्राप्त करता हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में अंतर्मुख परम तपोधन की भावशुद्धि का कथन है।

समस्त इन्द्रियों के व्यापार से मुक्त मुझे भेदज्ञानियों तथा अज्ञानियों के प्रति समताभाव है, भिन्न-अभिन्नरूप परिणति के अभाव के कारण मुझे किसी भी प्राणी से बैर-विरोध नहीं है, सहज वैराग्यपरिणति के कारण मुझे कोई भी आशा नहीं है, परम समरसीभाव से संयुक्त परम समाधि का मैं आश्रय करता हूँ।''

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अहो! मैं ज्ञानस्वभावी चैतन्यवस्तु हूँ। मैं किसी का मित्र या शत्रु नहीं और न कोई दूसरा मेरा मित्र या शत्रु है, इसलिये मुझे किसी के प्रति आशा नहीं है और न किसी के प्रति वैर है। मैं तो सर्वप्रकार की आशा छोड़कर चैतन्य में लीन होता हूँ ह्न राग-द्वेषरहित परमसमाधि प्रगट करता हूँ। हे जगत के जीवो! हमने जैसा किया है वैसा तुम भी करो।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८३७

आचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि जिसने श्रद्धा और स्थिरता ह्न इन दोनों अपेक्षाओं से इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ा है ह्न ऐसे मुझे सर्वजीवों के प्रति समता है। हम तो ज्ञातादृष्टा हैं। तत्त्व का स्वीकार करनेवाले ज्ञानी हों अथवा सत्य की निन्दा करनेवाले अज्ञानी हों ह्न दोनों के प्रति हमें राग-द्वेष नहीं है। जिन्हें पुण्य-पाप के विकार से रहित शुद्ध ज्ञानानन्द आत्मा का साक्षात्कार हुआ है ह्न ऐसे हमारे जैसे धर्मात्मा के प्रति भी हमें राग नहीं है। तत्त्व का विरोधी हो तो उसके प्रति भी यह ऐसा क्यों? इसप्रकार का विकल्प भी हमारे मन में नहीं उठता। वे अपनी योग्यता से चाहे जैसे परिणमे, उससे हमें कोई राग-द्वेष नहीं है।[१]

प्रश्न :ह्न अन्य सभी के प्रति तो समता हो, परन्तु किसी एक व्यक्ति के प्रति यदि कुछ खटक रह जावे तो?

उत्तर :ह्न जिसे एक व्यक्ति के कारण खटका है, उसे सबके साथ खटका है। ज्ञानी को जो कुछ अस्थिरता के कारण द्वेष होता है, वह अपने अपराध से है, सामनेवाले व्यक्ति के कारण से नहीं। अस्थिरता का अपराध किसी अन्य व्यक्ति के कारण बनता है ह्न यह मान्यता यथार्थ नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसका लक्ष छूटकर आत्मा में कभी भी स्थिर नहीं हुआ जा सकता।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के दर्शन हों तो उनके कारण हमें भक्ति का राग नहीं होता और कोई सर फोड़नेवाला वैरी हो तो उसके प्रति हमें द्वेष नहीं आता। हम तो हमारे ज्ञानस्वभाव में ह्न शान्त उपशमरसस्वरूप समता में हैं ह्न इसे भगवान ने प्रत्याख्यान कहा है।

देखो ! आचार्यदेव डंके की चोट कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! तुम भी हमारे जैसे ही हो। तुम्हारे में भी अन्दर ज्ञानानन्द चैतन्य की समता शक्ति में पड़ी है, उसका तुम निर्णय करो।[२]

चाहे जैसे संयोग हों, तथापि हमें उनके प्रति अनुकूलता-प्रतिकूलता का भाव नहीं आता। हम तो आधि-व्याधि-उपाधिरहित

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८४० २. वही, पृष्ठ ८४२

परमसमाधि का आश्रय करते हैं। स्त्री, पुत्र, मकान, लक्ष्मी आदि बाह्य पदार्थ के लक्ष से होनेवाले भाव को **उपाधि कहते हैं,** शरीर में रोग होने पर उसकी तरफ लक्ष जानेवाले भाव को **व्याधि कहते हैं** तथा अन्दर में पुण्य-पाप के अनेक प्रकार के होनेवाले विकल्पों को **आधि कहते हैं।** उन आधि-व्याधि-उपाधि के भावों से रहित सच्चिदानन्द आत्मा का भान करके उसमें एकाग्र होकर ठहरने को समाधि कहते हैं। इस समाधि का नाम चारित्र है।[१]

लौकिकजन प्राणायामादि जड़ की क्रिया को समाधि मानते हैं, परन्तु वह तो जड़ हो जाने का मार्ग है, वह आत्मा की सच्ची समाधि नहीं है, उससे आत्मा की शान्ति रंचमात्र भी प्रगट नहीं होती।

वास्तव में तो आधि-व्याधि-उपाधि से रहित ज्ञानानन्द शान्त-स्वभावी मैं हूँ ह्न ऐसे आत्मा का यथार्थ भान करके उसमें एकाग्रता करना ही परम समाधि है।[२]''

इस गाथा में आचार्यदेव द्वारा अत्यन्त सरल व सीधी-सपाट भाषा में यह कहा गया है कि मेरा तो सभी जीवों के प्रति समताभाव है। मेरा किसी से कोई वैर-विरोध नहीं है। मेरी भावना तो यही है कि मैं सभी प्रकार की आशा-आकांक्षा को छोड़कर समाधि को प्राप्त करूँ। यह आचार्यदेव ने उत्तमपुरुष में सभी भावलिंगी सन्तों की ओर से कहा है। यह न केवल उनकी बात है, अपितु सभी सन्तों की यही भावना होती है।

मानसिक विकल्पों को आधि, शारीरिक विकल्पों को व्याधि और परपदार्थों संबंधी विकल्पों को उपाधि कहते हैं। उक्त तीनों प्रकार के विकल्पों से मुक्त होकर निर्विकल्पदशा को प्राप्त करना ही समाधि है। सभी सन्तों की यह समाधिस्थ होने की भावना ही निश्चय-प्रत्याख्यान है॥१०४॥

इसके बाद **तथा चोक्तं श्री योगीन्द्रदेवै: ह्न** तथा श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८४३ २. वही, पृष्ठ ८४४

(वसंततिलका)

मुक्त्वालसत्वमधिसत्त्वबलोपपन्न:
स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम्।
संज्ञानचक्रमिदमंग गृहाण तूर्ण-
मज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपूपमर्दि ॥५७॥[१]

(रोला)

हे भाई ! तुम महासबल तज कर प्रमाद अब।
समतारूपी कुलदेवी को याद करो तुम॥
अज्ञ सचिव युत मोह शत्रु का नाशक है जो।
ऐसे सम्यग्ज्ञान चक्र को ग्रहण करो तुम॥५७॥

हे भाई ! स्वाभाविक बल सम्पन्न तुम प्रमाद को छोड़कर उत्कृष्ट समतारूपी कुलदेवी का स्मरण करके अज्ञानमंत्री सहित मोहराजारूप शत्रु का नाश करनेवाले सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण करो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा का बल बाहर से नहीं लाना पड़ता, वह तो स्वयं ही स्वाभाविक बल का पिण्ड है।[२]

हे भाई! ऐसे अनन्त स्वाभाविक बलवाला तू है, इसलिये आलस्य त्याग। अब अवसर आ गया है, अतः स्वभाव के भान सहित रमणतास्वरूप अपनी उत्कृष्ट समतारूपी कुलदेवी को याद करके शान्त - उपशम भाव का रटन करके, अज्ञान मंत्री सहित मोहराजा को नाश करनेवाले इस सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को ग्रहण कर, अर्थात् स्वभाव में एकाग्र होकर अज्ञानमंत्री और मोहराजा का नाश कर।

लोग बाहर में कुलदेवी को मानते हैं, वह सच्ची कुलदेवी नहीं है। ऐसे भ्रम को पोषण करके जीव संसार में भटक-भटक कर मरता है। **सच्ची कुलदेवी तो चैतन्य आत्मा की समता है,** अन्य कोई कुलदेवी

१. अमृताशीति, श्लोक २१ २. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८४४

नहीं है। चैतन्य त्रिकाली स्वभाव ही आत्मा का सच्चा कुल है और उसकी समता कुलदेवी है।

हे नाथ! मैं चैतन्यस्वभावी आत्मा हूँ, पुण्य-पाप की कृत्रिम उपाधिरहित मेरा स्वरूप है ह्न ऐसे आत्मा का भान करके उसमें ठहरना, वह हमारे कुल की रीति है ह्न अनन्त तीर्थंकरों के कुल की रीति है।[२]''

इस छन्द में रूपक अलंकार के माध्यम से यह कहा गया है कि **हे आत्मन्! तुझमें मोह का नाश करने के लिए स्वाभाविक बल है। इसलिए तू प्रमाद छोड़कर उस बल से मोह राजा को जीतने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी चक्ररत्न को प्राप्त कर और उसका प्रयोग कर, इससे ही मोह राजा अपने अज्ञानमंत्री के साथ नाश को प्राप्त होगा।।५७।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज स्वयं दो छन्द लिखते हैं; जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

मुक्त्यंगनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम्।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या संमता भवति संयमिनामजस्रम्।।१४०।।

(हरिगीत)

मुक्त्यांगना का भ्रमर अर जो मोक्षसुख का मूल है।
दुर्भावनातमविनाशक दिनकरप्रभा समतूल है।।
संयमीजन सदा संमत रहें समताभाव से।
मैं भाऊँ समताभाव को अत्यन्त भक्तिभाव से।।१४०।।

जो समताभाव; मुक्तिरूपी स्त्री के प्रति भ्रमर के समान है, मोक्ष के सुख का मूल है, दुर्भावनारूपी अंधकार के नाश के लिए चन्द्रमा के प्रकाश के समान है और संयमियों को निरंतर संमत है; टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मैं उस समताभाव को अत्यंत भक्तिभाव से भाता हूँ।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८४४-८४५

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चिदानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीतिपूर्वक रमणता करके पूर्ण निर्मल शुद्धदशा प्रगट करना मुक्ति है। हे भव्य! यदि तुझे वह मुक्त दशा प्रगट करनी हो तो स्वभाव में रमणतारूप अन्तर समता प्रगट कर; वह समता मुक्तिरूपी स्त्री अर्थात् आत्मा की परिपूर्ण शुद्धदशा के प्रति भ्रमर समान है। जैसे पद्मिनी स्त्री के पीछे भ्रमर फिरते हैं, **वैसे ही मुक्ति अंगना (मुक्तिदशा) प्राप्त करने के लिये समता, भ्रमर के समान उसके पीछे-पीछे फिरती है अर्थात् समता भ्रमर समान मुक्ति के प्रति रत है।**

राज्य के लिये, देश के लिए, लोक के लिये सहन करना समता नहीं है। मैं शुद्ध सच्चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ ह्न ऐसा भान करके स्वरूप में ह्न परम उपशमरस में ठहरने पर **पुण्य-पाप की वृत्ति का उत्थान ही न होना सच्ची समता है, वही मोक्षसुख का मूल है।**

स्वभाव में लीनतारूप यह समता पुण्य-पापरूपी ह्न दुर्भावनारूपी अंधकार को नाश करने के लिये चन्द्र के प्रकाश समान है। यह मेरा हितकारक और यह मेरा बुरा करनेवाला है ह्न ऐसी कल्पना दुर्भावना है। वास्तव में तो भला-बुरा करनेवाला दूसरा कोई है ही नहीं। विपरीत मान्यता तेरा बुरा करनेवाली है और सम्यक् मान्यता तेरा भला करने वाली है।[१]''

इस छन्द में संतों को सदा संमत समताभाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है, उसकी महिमा से परिचित कराया गया है, उसे मोक्षसुख का मूल कारण कहा गया है। उसकी उपमा सुन्दर स्त्रियों के ऊपर मंडरानेवाले भौरों से और अन्धकार को नष्ट करनेवाले चन्द्रप्रकाश से दी गई है; क्योंकि इस समता से मुक्तिरूपी स्त्री से समागम होता है और दुर्भावनारूपी अंधकार नष्ट हो जाता है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८४६

वस्तुत: ऐसा समताभाव ही निश्चयप्रत्याख्यान है। अत: टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मैं इसप्रकार के समताभाव को धारण करता हूँ, उसकी भावना करता हूँ।।१४०।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा
निजमुखसुखवार्धिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमन:प्रियमैत्रिका
मुनिवरगणस्योच्चै: सालंक्रिया जगतामपि।।१४१।।

(हरिगीत)

जो योगियों को महादुर्लभ भाव अपरंपार है।
त्रैलोक्यजन अर मुनिवरों का अनोखालंकार है।।
सुखोदधि के ज्वार को जो पूर्णिमा का चन्द्र है।
दीक्षांगना की सखी यह समता सदा जयवंत है।।१४१।।

जो योगियों को भी दुर्लभ है, आत्माभिमुख सुख के सागर में ज्वार लाने के पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान है, परम संयमी पुरुषों की दीक्षारूपी स्त्री के मन को लुभाने के लिए सखी के समान है और मुनिवरों तथा तीनलोक का अतिशयकारी आभूषण है; वह समताभाव सदा जयवंत है।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''राग-द्वेष, पुण्य-पाप की विषमतारहित स्वभाव में रमणतारूप समता मुनि को भी दुर्लभ है तो फिर अज्ञानी को सच्ची समता कैसे हो सकती है ?

जिसप्रकार समुद्र के ज्वार में चन्द्रमा निमित्त है, उसीप्रकार आत्मा के जो चैतन्य ज्ञानानन्दशक्ति अन्तरस्वभाव में भरी पड़ी है, उसे व्यक्त पर्याय में प्रगट करने के लिये समताभावरूपी चन्द्रमा के समान है।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८५०

मुनियों ने अपने आत्मा का भान करके दीक्षा प्रगट की है, उस दीक्षारूपी वीतरागी-परिणति को अभ्यन्तर समता अति प्रिय है।

वह अभ्यंतर समता मुनिवरों के समूह को ही नहीं, अपितु तीन लोक को भी अतिशयपने आभूषणस्वरूप है। वह समता सदा जयवन्त हो।[१]

मुनिवर कहते हैं कि वह समता जयवन्त वर्तती है अर्थात् ऐसी **समतावाले निर्ग्रन्थ मुनिवरों का विरह कभी पड़ता नहीं ह्न इसलिये वह जयवन्त वर्तती है।**[२]''

इस छन्द में भी समताभाव के ही गीत गाये हैं। योगियों को दुर्लभ यह समताभाव अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में ज्वार लाने के लिए पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान है।

यह तो आप जानते ही हैं कि पूर्णमासी के दिन सागर में ज्वार आता है और अमावस्या के दिन भाटा होता है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार पूर्णमासी के चन्द्रमा को देखकर समुद्र उमड़ता है, उसमें पानी की बाढ आती है और अमावस्या के दिन चन्द्रमा के वियोग में सागर शान्त हो जाता है, उदास हो जाता है, पानी किनारे से दूर चला जाता है; उसीप्रकार **आत्मारूपी सागर में समतारूपी पूर्णचन्द्र के उदय होने पर अतीन्द्रिय आनन्दरूपी जल की बाढ आ जाती है।**

यह समता दीक्षारूपी पत्नी की सखी है तथा सन्तों और सभी लोगों का आभूषण है।

अत: आत्मार्थी भाई-बहिनों को समता की शरण में जाना चाहिए; क्योंकि यह समता ही निश्चयप्रत्याख्यान है।।१४१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८५१ २. वही, पृष्ठ ८५१

अन्तर में विद्यमान ज्ञानानन्दस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्मतत्त्व ही परमसत्य है। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, श्रद्धान एवं वीतराग परिणति ही उत्तमसत्यधर्म है। **ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ८०**

नियमसार गाथा १०५

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि निश्चयप्रत्याख्यान करनेवाले सन्त कैसे होते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णिक्कसायस्स दान्तस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।।१०५।।

(हरिगीत)

जो निष्कषायी दान्त है भयभीत है संसार से।
व्यवसाययुत उस शूर को सुखमयी प्रत्याख्यान है।।१०५।।

जो निष्कषाय है, दान्त (इन्द्रियों को जीतनेवाला) है, शूरवीर है, व्यवसायी है और संसार से भयभीत है; उसे सुखमय प्रत्याख्यान होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''जो जीव निश्चयप्रत्याख्यान के योग्य हों; उन जीवों के स्वरूप का यह कथन है। जो समस्त कषायरूपी कलंक के कीचड़ से मुक्त हैं; सभी इन्द्रियों के व्यापार पर विजय प्राप्त कर लेने से, जिन्होंने परमदान्तता (जितेंद्रियपना) प्राप्त की है; सभी परीषहरूपी महासुभटों को जीत लेने से, जिन्होंने अपनी शूरवीरता प्राप्त की है; निश्चय परम तपश्चरण में निरत ह्न ऐसा शुद्धभाव जिन्हें वर्तता है और जो संसारदु:ख से भयभीत है; ऐसे सन्तों को यथोचित शुद्धता सहित व्यवहार से चार प्रकार के आहार के त्यागरूप व्यवहारप्रत्याख्यान है।

दूसरी बात यह है कि शुद्धतारहित व्यवहारप्रत्याख्यान तो मिथ्यादृष्टि पुरुषों को भी चारित्रमोह के उदय के हेतुभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म के क्षयोपशम द्वारा क्वचित् कदाचित् संभवित है। इसीलिए निश्चय-प्रत्याख्यान ही आसन्नभव्यजीवों के लिए हितरूप है।

जिसप्रकार सुवर्णपाषाण उपादेय है, अन्धपाषाण नहीं; उसीप्रकार निश्चयप्रत्याख्यान ही उपादेय है, व्यवहारप्रत्याख्यान नहीं।

इसलिए यथोचित शुद्धता सहित संसार तथा शरीर संबंधी भोगों की निर्वेगता निश्चयव्याख्यान का कारण है और भविष्यकाल में होनेवाले समस्त मोह-राग-द्वेषादि विविध विभावों का परिहार परमार्थप्रत्याख्यान है अथवा अनागतकाल में उत्पन्न होनेवाले विविध विकल्पों का परित्याग शुद्धनिश्चयप्रत्याख्यान है।''

यहाँ प्रश्न संभव है कि यहाँ जो यह कहा गया है कि 'मिथ्यादृष्टि के भी चारित्रमोह के उदय के हेतुभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म के क्षयोपशम द्वारा' ह्न इसमें प्रश्न यह है कि मिथ्यादृष्टि को चारित्रमोह का क्षयोपशम कैसे हो सकता है ?

उक्त संदर्भ में गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का कथन इसप्रकार है ह्न

''शुद्धतारहित व्यवहारप्रत्याख्यान तो कुदृष्टि-मिथ्यात्वी पुरुषों को भी चारित्रमोह के उदय के हेतुभूत द्रव्यकर्म-भावकर्म के क्षयोपशम द्वारा क्वचित् कदाचित् संभवित है। अज्ञानी के भी पुण्य के भावरूप प्रत्याख्यान का परिणाम होता है; परन्तु वह सच्चा प्रत्याख्यान नहीं है। मिथ्यादृष्टि को कषाय की किंचित् मंदता होने पर पुण्यभाव होता है। अतः उसे स्वर्ग मिलता है, पुण्य फलता है; तथापि उससे आत्मा का कल्याण तो रंचमात्र भी नहीं होता।[१]

अज्ञानी को होनेवाली मन्दकषाय तो वास्तव में चारित्रमोह का उदय है, क्षयोपशम नहीं। निश्चय से तो वह उदय है; किन्तु व्यवहार से कुछ कषाय मंद होने से क्षयोपशम कहने में आता है।[२]

जैसा स्वर्णपाषाण उपादेय है, वैसा अंधपाषाण उपादेय नहीं है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा के आश्रय से प्रगट हुआ वीतरागी प्रत्याख्यान ही उपादेय है, रागादिभाव उपादेय नहीं हैं।

जिसप्रकार जिस पत्थर में से सोना निकलता है, उसे जगत स्वीकार करता है और जिस पत्थर में से सोना नहीं निकलता है, उसे जगत स्वीकार नहीं करता; उसीप्रकार संसार-शरीर के प्रति भोग का भाव तो

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८५५ २. वही, पृष्ठ ८५५

पत्थर जैसा है, उनसे विरक्त होकर चैतन्य का आश्रय लेना; वह प्रत्याख्यान है। ऐसा प्रत्याख्यान भव्यजीवों को उपादेय है।[१]

अज्ञानी को जो आहार आदि के त्याग का शुभभाव होता है, वह वास्तविक प्रत्याख्यान नहीं है; क्योंकि शुद्धतारहित अकेला शुभभाव तो अंधपाषाण समान है। जिसे संसार-शरीर के प्रति प्रेम है, उसे तो मिथ्यात्व की भी पहिचान नहीं है।[२]''

स्वामीजी के उक्त कथन से यह बात स्पष्ट ही है कि मिथ्यात्व के क्षयोपशम, उपशम या क्षय बिना चारित्रमोह के क्षयोपशम की बात औपचारिक व्यवहार कथन ही है, परमार्थ से तो ऐसा संभव ही नहीं है।

निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयपूर्वक होनेवाला व्यवहारप्रत्याख्यान तो मिथ्यात्व और तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में मुनिराजों के ही होता है। चतुर्थ और पंचम गुणस्थान के श्रावकों को भी भूमिकानुसार यथासंभव प्रत्याख्यान हो सकता है, पर मिथ्यादृष्टियों का प्रत्याख्यान तो कथनमात्र है।।१०५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवं
परमयमिनामेतन्निर्व्वाणसौख्यकरं परम्।
सहजसमतादेवीसत्कर्णभूषणमुच्चकै:
मुनिप शृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम्।।१४२।।

(हरिगीत)

अरे समतासुन्दरी के कर्ण का भूषण कहा।
और दीक्षा सुन्दरी की जवानी का हेतु जो।।
अरे प्रत्याख्यान वह जिनदेव ने जैसा कहा।
निर्वाण सुख दातार वह तो सदा ही जयवंत है।।१४२।।

हे मुनिवर ! ध्यान से सुनो। जिनेन्द्रदेव के मन में उत्पन्न होनेवाला

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८५९ २. वही, पृष्ठ ८६०

यह प्रत्याख्यान निरन्तर जयवंत है। यह प्रत्याख्यान; उत्कृष्ट संयम को धारण करनेवाले वीतरागी मुनिराजों को मुक्तिसुख को प्राप्त करानेवाला है, सहज समतादेवी के सुन्दर कानों का उत्कृष्ट आभूषण है और तेरी दीक्षारूपी प्रिय स्त्री के अतिशय यौवन का कारण है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे हुए शुद्ध चैतन्य तत्त्व का भान करके, जो उसमें स्थिर होते हैं; उन मुनिवरों को निश्चयप्रत्याख्यान होता है। उन परमसंयमी मुनिवरों को वह प्रत्याख्यान मोक्ष का कारण है। वही प्रत्याख्यान समतादेवी के कर्ण का सुन्दर आभूषण है। **लौकिक अनुकूलता एवं प्रतिकूलता सभी के प्रति मुनिराजों को समता है। मुनियों की सहज समता का आभूषण यह निश्चयप्रत्याख्यान है।**

हे मुनि! जो तेरे स्वरूप के आनन्द में झूलती हुई दीक्षारूपी प्रिय स्त्री, उसके अतिशय यौवन का कारण यह प्रत्याख्यान है अर्थात् स्वरूप में लीनतारूप वीतराग चारित्र से तेरी दीक्षा की शोभा है।

मुनि को प्रिय में भी प्रिय तो दीक्षा-वीतरागीचारित्र है। उस दीक्षा में वृद्धि लाने के लिये कारणरूप यह निश्चयप्रत्याख्यान है। शांतभाव होकर स्वरूप में ठहर जाय ह्न ऐसी मुनिराजों की दशा होती है और उन्हें ही ऐसा प्रत्याख्यान होता है।[१]''

इस छन्द में निश्चयप्रत्याख्यान के महत्त्व को दर्शाया गया है, उसके गीत गाये हैं। कहा गया है कि वह निरंतर जयवंत वर्तता है।

यह निश्चयप्रत्याख्यान वीतरागी सन्तों को अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त कराने वाला है, समतादेवी के कानों का उत्कृष्ट आभूषण है और तेरी दीक्षारूपी पत्नी को सदा युवा रखने का कारण है। इसलिए हे मुनिजनो ! तुम इस निश्चयप्रत्याख्यान को अत्यन्त भक्तिभाव से धारण करो।।१४२।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८६२

नियमसार गाथा १०६

नियमसार शास्त्र के इस निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार की यह अंतिम गाथा है, इसमें अधिकार का उपसंहार किया गया है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा।।१०६।।

(हरिगीत)

जो जीव एवं करम के नित करे भेदाभ्यास को।
वह संयमी धारण करे रे नित्य प्रत्याख्यान को।।१०६।।

इसप्रकार जो सदा जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है, वह संयमी नियम से प्रत्याख्यान धारण करने में समर्थ है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यह निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार के उपसंहार का कथन है।

श्रीमद् अरहंत भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए परमागम के अर्थ का विचार करने में समर्थ जो परमसंयमी; अनादि बन्धनरूप अशुद्ध अन्त:तत्त्व और कर्म पुद्गल का भेद, भेदाभ्यास के बल से करता है; वह परमसंयमी निश्चयप्रत्याख्यान और व्यवहारप्रत्याख्यान को स्वीकार करता है।''

उक्त गाथा और टीका में निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार का उपसंहार करते हुए मात्र इतना ही कहा गया है कि **जिनेन्द्रकथित आगम के मर्मी मुनिराज तो भगवान आत्मा और पौद्गलिक कर्म के बीच जो भेद है, उसे भलीभाँति जानकर निरन्तर उसी के अभ्यास में रहते हैं; क्योंकि वे निश्चय और व्यवहारप्रत्याख्यान को स्वीकार करनेवाले संत हैं।।१०६।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पूरे अधिकार के उपसंहार में नौ छन्द लिखते हैं; जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(रथोद्धता)

भाविकालभवभावनिवृत्त:
सोहमित्यनुदिनं मुनिनाथ:।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं
स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै।।१४३।।

(रोला)

भाविकाल के भावों से तो मैं निवृत्त हूँ।
इसप्रकार के भावों को तुम नित प्रति भावो।।
निज स्वरूप जो सुख निधान उसको हे भाई!
यदि छूटना कर्मफलों से प्रतिदिन भावो।।१४३।।

'जो भविष्यकाल के सांसारिक भावों से निवृत्त है, वह मैं हूँ।' इसप्रकार के भावों को, कर्मफल से मुक्त होने के लिए, पूर्ण सुख के निधान निर्मल निजस्वरूप को सभी मुनिराजों को नित्य भाना चाहिए।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भावलिंगी वीतरागी मुनिराज कहते हैं कि मैं तो भव के भाव से रहित हूँ और भविष्य में भी मुझे भव का भाव नहीं होगा। पुण्य-पाप इत्यादि सभी विभाव भाव मलिन हैं; इनसे मुक्त होने के लिए परिपूर्ण आनन्द के निधान निजस्वरूप भगवान आत्मा की प्रतिदिन भावना भाना चाहिए। मैं तो चैतन्य ज्ञायक हूँ ह्न ऐसा निर्णय करके उसमें जितनी एकाग्रता होगी, उतना प्रत्याख्यान है।

भूतकाल के दोषों का प्रतिक्रमण होता है। वर्तमानकाल की आलोचना और भविष्यकाल का प्रत्याख्यान होता है; परन्तु चिदानन्द स्वरूप निजात्मा त्रिकाल दोषरहित शुद्ध है, उसकी दृष्टि करके उसमें एकाग्र होने से त्रिकाल के दोषों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना हो जाती है ह्न इसलिए कहा है कि निज परमात्मतत्त्व की प्रतिदिन भावना भाना ह्न यही मुक्ति का कारण है।[१]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८६६-८६७

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक मुनिराज को कर्ममल से मुक्त होने के लिए ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा की भावना भानी चाहिए तथा इसप्रकार सोचना चाहिए कि मैं तो वह हूँ, जो भविष्यकाल के सांसारिक भावों से निवृत्त है।

चूँकि यहाँ प्रत्याख्यान की चर्चा चल रही है; इसलिए यहाँ भविष्य काल के संसारिक भावों से निवृत्त होने की बात कही है।।१४३।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(स्वागता)

घोरसंसृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः।।१४४।।

(रोला)

परमतत्त्व तो अरे भयंकर भव सागर की।
नौका है ह्न यह बात कही है परमेश्वर ने।।
इसीलिए तो मैं भाता हूँ परमतत्त्व को।
अरे निरन्तर अन्तरतम से भक्तिभाव से।।१४४।।

'यह परमतत्त्व भगवान आत्मा भयंकर संसार सागर की दैदीप्यमान नाव है' ह्न ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। इसलिए मैं मोह को जीतकर निरन्तर परमतत्त्व को तत्त्वत: भाता हूँ।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमचैतन्य तत्त्व संसार समुद्र से पार होने के लिए सुन्दर नौका के समान है। इस चैतन्य नौका का आश्रय लेने से आत्मा घोर संसार समुद्र से पार हो सकता है। चिदानन्द आत्मतत्त्व को जाने बिना पुण्य-पाप में उलझ जावे तो संसार से नहीं तिर सकता; परन्तु यहाँ **परम चैतन्यतत्त्व तो ऐसी नाव है कि उसकी श्रद्धा-ज्ञान और उसमें एकाग्रता करने से घोर संसार समुद्र का किनारा आ जाता है।** एकमात्र निज परमात्मतत्त्व; अपने को संसार से तारने के लिए नौका समान है ह्न ऐसा

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इसलिए मैं मोह को जीतकर निरन्तर उस परमात्मतत्त्व की भावना भाता हूँ ह्न ऐसी भावना, वह प्रत्याख्यान है।[१]''

इस कलश में परमतत्त्व की भावना भाने की प्रेरणा दी है; क्योंकि यह परमतत्त्व संसारसागर से पार उतारने के लिए नौका के समान है।

जिसप्रकार नाव के सहारे से विशाल समुद्र से भी पार पा सकते हैं; उसीप्रकार परमतत्त्व की भावना से भी संसारसमुद्र का किनारा पाया जा सकता है।।१४४।।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः
भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानंदचिन्निष्टबुद्धेः।
नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानां
भूयो भूयो भवति भविनां संसृतिर्घोररूपा।।१४५।।

(रोला)

भ्रान्ति नाश से जिनकी मति चैतन्यतत्त्व में।
निष्ठित है वे संत निरंतर प्रत्याख्यान में।।
अन्य मतों में जिनकी निष्ठा वे योगीजन।
भ्रमे घोर संसार नहीं वे प्रत्याख्यान में।।१४५।।

भ्रान्ति के नाश से जिसकी बुद्धि सहज परमानन्दमयी चेतनतत्त्व में निष्ठित है; ऐसे शुद्धचारित्रमूर्ति को निरन्तर प्रत्याख्यान है। परसमय में अर्थात् अन्य दर्शन में जिनकी निष्ठा है; उन योगियों को प्रत्याख्यान नहीं होता है; क्योंकि उन्हें तो बारंबार घोर संसार में परिभ्रमण करना है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्ध चैतन्यतत्त्व का भान करके जिसने भ्रान्ति का नाश किया है, और जिसकी बुद्धि त्रिकाल सहज परमानन्दयुक्त चैतन्य में एकाग्र है ह्न

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८६७

इसप्रकार के शुद्ध चारित्रमूर्ति मुनियों को सतत् प्रत्याख्यान होता है।[१]

जो शुद्धात्मस्वरूप चैतन्य में लीन हुए, उन्हें तो शुद्ध चारित्रमूर्ति कहा; और जिन्हें आत्मभान नहीं है, उन्हें परसमय मिथ्यादृष्टि कहा। उनका पुनः पुनः घोर संसार में भ्रमण होता है और ध्रुव चैतन्य की भावना से संसार भ्रमण मिटता है।[२]''

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि **जिनकी बुद्धि अपने भगवान आत्मा में निष्ठित है; वे तो निरंतर प्रत्याख्यान में ही हैं;** किन्तु जिनकी बुद्धि अन्य मिथ्यामान्यताओं में निष्ठित है; वे अनंतकाल तक संसार-सागर में ही गोते लगाते रहेंगे; क्योंकि उनके प्रत्याख्यान नहीं है।।१४५।।

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शिखरिणी)

महानंदानंदो जगति विदितः शाश्वतमयः
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्मलगुणे।
अमी विद्वान्सोपि स्मरनिशितशस्त्रैरभिहताः
कथं कांक्षंत्येनं बत कलिहतास्ते जडधियः।।१४६।।

(रोला)

जो शाश्वत आनन्द जगतजन में प्रसिद्ध है।
वह रहता है सदा अनूपम सिद्ध पुरुष में।।
ऐसी थिति में जड़बुद्धि बुधजन क्यों रे रे।
कामबाण से घायल हो उसको क्यों चाहे ?।।१४६।।

जो जगत प्रसिद्ध शाश्वत महानन्द है; वह निर्मल गुणवाले सिद्धात्मा में अतिशयरूप से रहता है। ऐसी स्थिति होने पर भी अरे रे ! विद्वान लोग भी काम के तीक्ष्ण बाणों से घायल होते हुए भी उसी की इच्छा क्यों करते हैं ?

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८६८ २. वही, पृष्ठ ८६८

''अहो! आनन्दमूर्ति सुख का निधान तो आत्मा है और वही सुख सिद्धभगवन्तों की पर्याय में प्रगट हुआ है ह्न इस बात की जिसे खबर नहीं है, वह तो विषयों की इच्छा से दुःखी होकर भी विषयों को चाहता ही है; परन्तु जिन विद्वानों ने इस बात को जाना है, वे भी इस चैतन्य की भावना क्यों नहीं भाते और भोगों की ही भावना क्यों भाते हैं ?[१]''

इस छन्द में यह कहा गया है कि जो जगत में प्रसिद्ध अतीन्द्रिय आनन्द है, वह तो निर्मल गुणवाले सिद्धपुरुषों में ही पाया जाता है। ऐसी स्थिति होने पर भी विद्वज्जन न मालूम क्यों कामबाण से घायल होकर भी, उसी की वांछा करते हैं? यह बड़े आश्चर्य की बात है।।१४६।।

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं
सच्चारित्रं दुरघतरुसांद्राटवीवह्निरूपम्।
तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतौ भव्यशार्दूल नित्यं
यत्किंभूतं सहजसुखदं शीलमूलं मुनीनाम् ।।१४७।।

(रोला)

अघ वृक्षों की अटवी को वह्नि समान है।
ऐसा सत् चारित्र सदा है प्रत्यख्यान में।।
इसीलिए हे भव्य स्वयं की बुद्धि को तू।
आत्मतत्त्व में लगा सहज सुख देने वाले।।१४७।।

जो दुष्ट पापरूपी वृक्षों की घनी अटवी को जलाने के लिए अग्निरूप हैं ह्न ऐसा प्रगट शुद्ध-बुद्ध सत्चारित्र संयमियों को प्रत्याख्यान से होता है; इसलिए हे भव्यशार्दूल तू शीघ्र अपनी बुद्धि में आत्मतत्त्व को धारण कर; क्योंकि वह तत्त्व सहजसुख को देनेवाला और मुनिवरों के चारित्र का मूल है।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७०

''मुनिराज को शुद्ध चारित्रस्वरूप अग्नि प्रगट हुई, वह पापरूपी जंगल को भस्म कर देगी। संयमियों को प्रत्याख्यान से अर्थात् स्वरूप में रागरहित एकाग्रता से शुद्ध चारित्र प्रगट होता है, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्यशार्दूल! तू अपने हृदय में जल्दी ही सहजतत्त्व को धारण कर, यह तत्त्व सहजसुख को देनेवाला है और मुनिराज को चारित्र का मूल है ह्न ऐसे तत्त्व में एकाग्र होने से प्रत्याख्यान अर्थात् चारित्र होता है।[१]''

इस छन्द में कहा गया है कि पापरूपी वृक्षों के घने जंगल को जलाने के लिए जो अग्नि के समान है; ऐसा शुद्ध-बुद्ध चारित्र संयमीजनों को प्रत्याख्यान से होता है। इसलिए हे भव्यजीवो ! तुम शीघ्र ही अपनी बुद्धि को आत्मतत्त्व में लगाओ; क्योंकि वह आत्मतत्त्व सहजसुख देनेवाला है और मुनिजनों के चारित्र का मूल है।।१४७।।

छठवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातबुद्धेः
हृदयसरसिजाताभ्यन्तरे संस्थितं यत्।
तदपि सहजतेजः प्रास्तमोहान्धकारं
स्वरसविसरभास्वद्बोधविस्फूर्तिमात्रम्।।१४८।।

(रोला)

जो सुस्थित है धीमानों के हृदय कमल में।
अर जिसने मोहान्धकार का नाश किया है।।
सहजतत्त्व निज के प्रकाश से ज्योतित होकर।
अरे प्रकाशन मात्र और जयवंत सदा है।।१४८।।

तत्त्व में निष्णात बुद्धिवाले जीवों के हृदयकमलरूप अभ्यन्तर में जो सहज आत्मतत्त्व स्थित है; वह सहज आत्मतत्त्व जयवंत है। उस सहज तेज ने मोहान्धकार का नाश किया है और वह सहजतेज निज रस

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७०-८७१

के विस्तार से प्रकाशित ज्ञान के प्रकाशन मात्र है।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्यशक्ति की प्रतीति करके उसकी भावना में एकाग्र हो तो, मोह का नाश होकर परमात्मदशा प्रगट होती है। सहजतत्त्व त्रिकाल निजरस के फैलाव से प्रकाशित होता हुआ ज्ञान का प्रकाशन मात्र करता है। यह सब त्रिकालीतत्त्व की महिमा है। उसकी महिमा पूर्वक उसमें एकाग्र होने से पर्याय में सहज ज्ञानानन्ददशा प्रगट होती है। जो तत्त्व में निष्णात है, उसे ही यह परमात्मतत्त्व प्रतीति में आता है और पश्चात् उसमें लीन होने से चारित्र होता है।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस छन्द में त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को सहजतत्त्व से अभिहित किया है और उस त्रिकाली ध्रुव आत्मरूप सहजतत्त्व के गीत गाये हैं। कहा है कि उस सहजतेज ने मोहान्धकार का नाश कर दिया है, वह सहजतत्त्व ज्ञान के प्रकाशन के अतिरिक्त कुछ नहीं है और वह सदा जयवंत वर्तता है।

तात्पर्य यह है कि उसका सर्वथा लोप कभी नहीं होता।।१४८।।

सातवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

अखंडितमनारतं सकलदोषदूरं परं
भवांबुनिधिमग्नजीवततियानपात्रोपमम्।
अथ प्रबलदुर्गवर्गदववह्निकीलालकं
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा।।१४९।।

(रोला)

सकल दोष से दूर अखण्डित शाश्वत है जो।
भवसागर में डूबों को नौका समान है।।
संकटरूपी दावानल को जल समान जो।
भक्तिभाव से नमस्कार उस सहजतत्त्व को।।१४९।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७१-८७२

जो सहजतत्त्व अखण्डित है, शाश्वत है, सभी दोषों से दूर है, उत्कृष्ट है, भवसागर में डूबे हुए जीवों को नाव के समान है तथा प्रबल संकटों के समूहरूपी दावानल को बुझाने के लिए जल समान है; उस सहजतत्त्व को मैं प्रमोद भाव से नमस्कार करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''वह सहजतत्त्व भवसागर में डूबते जीवों के लिए तैरती हुई नौका के समान है और संकटों के समूहरूपी दावानल को शान्त करने के लिए जलसमान है। उस सहजतत्त्व की तरफ ढलते ही संसार का दावानल शान्त हो जाता है ह्न ऐसे उस सहजतत्त्व को मैं प्रमोद पूर्वक सतत् नमस्कार करता हूँ।

देखो! ऐसे सहजतत्त्व के बहुमान बिना वास्तविक चारित्र अथवा प्रत्याख्यान नहीं होता है; इसलिए इस सहजतत्त्व की महिमा बताई है।[१]''

जिस सहजतत्त्व के गीत विगत छन्द में गाये गये हैं; उसी की महिमा इस छन्द में भी बता रहे हैं। कहा जा रहा है कि वह **सहजतत्त्वरूप भगवान आत्मा अखण्डित है, शाश्वत है, निर्दोष है, उत्कृष्ट है, संसारसमुद्र में डूबते लोगों को बचाने के लिए नाव के समान है और संकटरूपी दावानल को शान्त करने के लिए जल समान है; इसलिए मैं उस सहजतत्त्व को प्रमोदभाव से नमस्कार करता हूँ।।१४९।।**

आठवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं
मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम्।
नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभि:
नमामि सुखमंदिरं सहजतत्त्वमुच्चैरद:।।१५०।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७२-८७३

(रोला)

जिनमुख से है विदित और थित है स्वरूप में।
रत्नदीप सा जगमगात है मुनिमन घट में।।
मोहकर्म विजयी मुनिवर से नमन योग्य है।
उस सुखमंदिर सहजतत्त्व को मेरा वंदन।।१५०।।

जो सहजतत्त्व जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से प्रसिद्ध हुआ है, जो अपने स्वरूप में स्थित है, जो मुनिराजों के मनरूपी घट में सुन्दर रत्नदीपक के समान प्रकाशित हो रहा है, जो इस लोक में दर्शनमोह आदि कर्मों पर विजय प्राप्त किये हुए योगियों के द्वारा नमस्कार करने योग्य है तथा जो सुख का मंदिर है; उस सहजतत्त्व को मैं सदा अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ सहजतत्त्व को नमस्कार किया गया है। सहजतत्त्व अर्थात् अपना शाश्वत् शुद्धस्वरूप, वही आदरणीय है। वह सहजतत्त्व श्री जिनेन्द्रभगवान के मुखारविन्द से प्रसिद्ध हुआ है। भगवान की वाणी में पुण्य-पापरूप विभावों से पार और शरीरादि से भिन्न स्वाभाविक सहज आत्मतत्त्व ही उपादेय बताया गया है। इसका निर्णय किए बिना सच्चा त्याग और चारित्र नहीं होता।[१]''

इस छन्द में भी उसी सहजतत्त्व की विशेषतायें बताते हुए वंदन किया गया है। **अपने स्वरूप में स्थित और जिनेन्द्रभगवान की वाणी में समागत वह सहजतत्त्व मुनियों के मनरूपी घट में रत्नदीपक के समान जगमगा रहा है। जो अतीन्द्रिय सुख का मंदिर है; उस सहजतत्त्व को नमस्कार हो ह्न ऐसा कहा गया है।।१५०।।**

नौवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७३-८७४

(पृथ्वी)

प्रनष्टदुरितोत्करं प्रहतपुण्यकर्मव्रजं
प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम् ।
प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरणप्रणाशात्मकं
प्रबृद्धगुणमंदिरं प्रहृतमोहरात्रिं नुमः ।।१५१ ।।

(रोला)

पुण्य-पाप को नाश काम को खिरा दिया है।
महल ज्ञान का अरे काम ना शेष रहा है।।
पुष्ट गुणों का धाम मोह रजनी का नाशक।
तत्त्ववेदिजन नमें उसी को हम भी नमते।।१५१।।

जिसने पापपुंज को नष्ट किया है, पुण्यकर्म के पुंज को नष्ट किया है, जिसने कामदेव को धो डाला है, जो प्रबल ज्ञान का महल है, जिसे तत्त्ववेत्ता भी प्रणाम करते हैं, जिसे कोई कार्य करना शेष नहीं है, जो कृतकृत्य है, जो पुष्ट गुणों का धाम है और जिसने मोहरात्रि का नाश किया है; उस सहजतत्त्व को हम नमस्कार करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा सहजतत्त्व है, उसने पुण्य-पाप समूह का नाश कर दिया है। पुण्य-पाप नये-नये उत्पन्न होते हैं और आत्मा तो अनूतन अर्थात् उत्पाद-विनाश से रहित ज्यों का त्यों है। उसमें पुण्य-पाप का अभाव है, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि सहजतत्त्व ने पुण्य-पाप का नाश किया है, वास्तव में तो त्रिकाली सहजात्मतत्त्व में पुण्य-पाप का अभाव ही है। उस त्रिकाली सहजतत्त्व ने काम, क्रोध, हास्यादि की वासनाओं को भी खदेड़ डाला है अर्थात् सहजतत्त्व में त्रिकाल कामवासनाओं का अभाव ही है।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७६-८७७

अहो! ऐसे सहजतत्त्व का भान जिस पर्याय में हुआ हो, वह पर्याय भी धन्य है ह्न ऐसी महिमापूर्वक तत्त्ववेत्ता उस सहजतत्त्व को ही नमस्कार करते हैं।[१]

हे जीव! ऐसे सहजतत्त्व की महिमा करो, रुचि करो और उसकी ही भावना करो, क्योंकि उसकी भावना से ही प्रत्याख्यान होता है।[१]

जो जीव ऐसे तत्त्व की महिमापूर्वक रुचि करता है, वह मोक्षमार्ग में आरूढ़ हो जाता है; इसलिए ऐसे सहजतत्त्व को यथार्थ जानकर उसकी ही भावना करना चाहिए।[२]''

इन सभी छन्दों में सहजतत्त्वरूप भगवान आत्मा की महिमा ही बताई जा रही है। इस छन्द में यह कहा जा रहा है कि इस भगवान आत्मा ने पुण्य और पाप ह्न दोनों ही भावों का नाश किया है। तात्पर्य यह है कि **इस सहजतत्त्वरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में पुण्य-पाप के भाव हैं ही नहीं। इसका स्वभाव ही पुण्य-पाप के भावों के अभावरूप है। इस स्थिति को ही यहाँ नाश कहा है।**

यह भगवान आत्मा ज्ञान का महल है, इसे तत्त्ववेत्ता भी प्रणाम करते हैं। यह कृतकृत्य है; क्योंकि इसे कोई काम करना शेष नहीं है। यह स्वभाव से ही कृतकृत्य है। यह अनंतगुणों का धाम है और इसमें मोहरूपी रात्रि का अभाव कर दिया है, यह निर्मोह है। ऐसे सहजतत्त्व को हम सभी बारंबार नमस्कार करते हैं।।१५१।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार नामक छठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७७
२. वही, पृष्ठ ८७८

७

परमालोचनाधिकार

(गाथा १०७ से गाथा ११२ तक)

नियमसार गाथा १०७

अब आलोचना अधिकार कहा जाता है। आलोचना अधिकार की पहली और नियमसार की १०७वीं गाथा इसप्रकार है ह्न

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि।।१०७।।

(हरिगीत)

जो कर्म से नोकर्म से अर विभावगुणपर्याय से।
भी रहित ध्यावे आतमा आलोचना उस श्रमण के।।१०७।।

जो श्रमण कर्म, नोकर्म और विभावगुणपर्याय से भी रहित आत्मा का ध्यान करता है; उस श्रमण को आलोचना होती है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चय आलोचना के स्वरूप का कथन है।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर ही नोकर्म हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ह्न ये आठ कर्म ही द्रव्यकर्म हैं।

कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्ध सत्ता के ग्राहक शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनय से आत्मा इन द्रव्यकर्मों और नोकर्मों से रहित है।

मतिज्ञानादिक विभाव गुण हैं और नर-नारकादि व्यंजनपर्यायें विभावपर्यायें हैं; क्योंकि गुण सहभावी होते हैं; और पर्यायें क्रमभावी होती हैं। आत्मा इन सब गुण-पर्यायों से भिन्न है और स्वभावगुण-पर्यायों से संयुक्त है।

इसप्रकार इन कर्म-नोकर्म एवं विभावगुणपर्यायों से भिन्न एवं स्वभाव गुणपर्यायों से संयुक्त; त्रिकाल निरावरण, निरंजन आत्मा को, तीन गुप्तियों से गुप्त परमसमाधि द्वारा जो परमश्रमण अनुष्ठानसमय में वचनरचना के प्रपंच (विस्तार) से पराङ्मुख रहता हुआ नित्य ध्याता है; उस भावश्रमण को निरन्तर निश्चय आलोचना होती है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**प्रश्न ह्न** प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना नव तत्त्व में से किस तत्त्व में आते हैं?

उत्तर ह्न निश्चयप्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान चारित्र के भेद हैं, इसलिए मोक्ष के उपाय होने से संवर-निर्जरातत्त्व में आते हैं। तथा जो शुभाशुभभावरूप व्यवहार प्रतिक्रमण आदि हैं; वे आस्रवरूप होने से आस्रवतत्त्व में आते हैं।[१]

पहले शुद्धात्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्मरूप परद्रव्य से भिन्न बताया, अब अपनी विकारी पर्याय से भिन्न बताते हैं :ह्न

मतिश्रुतज्ञानपर्याय विभावगुण हैं, क्योंकि इनके आश्रय से निर्मलदशा प्रगट नहीं होती। आत्मा का स्वरूप मतिश्रुतज्ञानपर्याय मात्र नहीं है, इसलिए पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिए उन्हें विभावगुण कहा है और नर-नारकादिपर्याय विभाव व्यंजनपर्याय हैं।

शरीर का आकार तो भिन्न है ही; लेकिन शरीराकार आत्मप्रदेशों का जो अरूपी आकार है, वह विभावव्यंजनपर्याय है, शुद्धात्मा उससे भी भिन्न है। शरीर से, कर्म से, रागादि से और मतिज्ञानादिक विभावपर्यायों से तो आत्मा भिन्न है ही; तथा आत्मा के प्रदेशों की जो विभावरूप आकृति, उससे भी भगवान आत्मा भिन्न है।

यहाँ मतिज्ञानादिक को त्रिकालीगुण के रूप में नहीं कहा है, बल्कि

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८८०

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की पर्याय को एक साथ रहने की अपेक्षा उन्हें सहभावी गुण कहा है; परन्तु वास्तव में तो वे विभावपर्यायें ही हैं। यहाँ तो पर्याय बुद्धि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराना है, क्योंकि उसके बिना संवर नहीं होता।[१]

त्रिकाली तत्त्व स्वभावगुणपर्यायों से परिपूर्ण है ह्न ऐसे आत्मा को लक्ष्य में लेकर जो उसमें एकाग्र होता है, वह भावश्रमण है और उसे ही वास्तविक आलोचना होती है। चैतन्यतत्त्व की जानकारी बिना प्रतिक्रमण, सामायिक, आलोचना आदि कोई भी धर्म प्रगट नहीं होता।[२]

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्धात्मा का जो अन्तरंग में स्थिरतापूर्वक अवलोकन करता है, उसे भावश्रमण कहा है। इसके अलावा पंचमहाव्रत पालने से या दिगम्बर होकर जंगल में रहने से भावश्रमण नहीं कहलाता।

मुनिराज चैतन्य की परमसमाधि में ऐसे गुप्त हो जाते हैं कि अन्दर क्या करते हैं? ह्न इसकी अन्य जीवों को खबर ही नहीं पड़ती। मुनिराज शरीर का लक्ष्य छोड़कर अन्दर चैतन्य के ध्यान में लीन होकर शरीर-मन-वाणी की गुप्ति से गुप्त हो गये हैं ह्न ऐसे मुनियों को ही निश्चय आलोचना होती है।[३]''

इसप्रकार इस गाथा और इसकी टीका में यही कहा गया है कि औदारिकादि शरीररूप नोकर्म और ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मों से तथा मतिज्ञानादि विभावगुण और नरनारकादि व्यंजनपर्यायों से भिन्न तथा स्वभावगुणपर्यायों से संयुक्त आत्मा को जो मुनिराज परमसमाधि द्वारा ध्याते हैं; उन मुनिराजों को निश्चय आलोचना होती है॥१०७॥

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज **तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः** ह्न तथा आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा भी कहा गया है ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८८२-८८३
२. वही, पृष्ठ ८८४
३. वही, पृष्ठ ८८४

(आर्या)

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥५८॥[१]

(रोला)

मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो।
उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो॥
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥५८॥

मोह के विलास से फैले हुए इन उदयमान कर्मों की आलोचना करके अब मैं चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही वर्त रहा हूँ।

इस कलश में यही कहा गया है कि **मोहकर्म के उदय में होनेवाले भावकर्मों की आलोचना करके अब मैं स्वयं में अर्थात् स्वयं के शुद्ध-बुद्ध निरंजन निराकार आत्मा में ही वर्त रहा हूँ, लीन होता हूँ, लीन हूँ॥५८॥**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **उक्तं चोपासकाध्ययने** ह्न उपासकाध्ययन में भी कहा है ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥५९॥[२]

(रोला)

किये कराये अनुमोदित पापों का अब तो।
आलोचन करता हूँ मैं निष्कपट भाव से॥
अरे पूर्णतः उन्हें छोड़ने का अभिलाषी।
धारण करता यह महान व्रत अरे आमरण॥५९॥

अब मैं कृतकारितानुमोदित अर्थात् किये हुए, कराये हुए और अनुमोदना किये हुए सभी पापों की निष्कपटभाव से आलोचना करके मरणपर्यन्त रहनेवाले परिपूर्ण महाव्रत धारण करता हूँ।

१. समयसार, कलश २२७ २. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२५

इस छन्द में यही कहा गया है कि **मेरे द्वारा अबतक किये गये, कराये गये और अनुमोदना किये गये सभी प्रकार के पापभावों की निष्कपटभाव से आलोचना करके, मरणपर्यन्त के लिए उनके त्याग का महाव्रत लेता हूँ, संकल्प करता हूँ।।५९।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथाहि** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं
शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे।
पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां
नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि ।।१५२।।

(रोला)

पुण्य-पाप के भाव घोर संसार मूल हैं।
बार-बार उन सबका आलोचन करके मैं।।
शुद्ध आतमा का अवलम्बन लेकर विधिवत्।
द्रव्यकर्म को नाश ज्ञानलक्ष्मी को पाऊँ।।१५२।।

घोर संसार के मूल सभी पुण्य-पापरूप सभी शुभाशुभ कर्मों की बारंबार आलोचना करके अब मैं निरुपाधिक गुणवाले शुद्ध आत्मा का स्वयं अवलम्बन करके द्रव्यकर्मरूप समस्त कर्म प्रकृतियों को नष्ट करके सहज विलसती ज्ञानलक्ष्मी को प्राप्त करता हूँ।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो जीव चैतन्य को भूलकर पुण्य-पाप में रुचिवान होते हैं, वे जीव चार गतिरूप संसार में रखड़ते हैं। यहाँ शरीर की क्रिया की बात नहीं है, परन्तु दया-दान पूजादिरूप शुभभाव सुकृत हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादिरूप अशुभभाव दुष्कृत है ह्न यह सुकृत तथा दुष्कृत दोनों ही घोर संसार के कारण हैं; क्योंकि पुण्य करके स्वर्ग में जावे तो वह भी संसार ही है ह्न इसप्रकार जो पुण्य और पाप दोनों को

अपने से भिन्न समझकर अपनी शुद्धात्मा का अवलम्बन लेते हैं, उन्हें संवर होता है।[१]

जिसप्रकार बबूल की जड़ को पानी देने से बबूल का फल प्राप्त होता है और आम की जड़ को पानी देने से आम का फल प्राप्त होता है। उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा धर्म का मूल है। उसकी रुचि का पोषण करने से मोक्ष प्राप्त होता है और पुण्य-पाप भाव संसार के मूल हैं, उनकी रुचि का पोषण करने से चार गतिरूप घोर संसार में परिभ्रमण होता है। पुण्य के फल में प्राप्त सेठाई या स्वर्ग भी घोर संसार है, उसमें चैतन्य का सुख नहीं है।[२]

जिसप्रकार मोर अण्डे के छिलके में से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि उसके अन्दर रस में से उत्पन्न होता है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा में मोक्ष की शक्ति भरी है, उस शक्ति में से मोक्ष प्रगट होता है। पुण्य-पाप तो छिलके के समान हैं, उसमें से मोक्षदशा प्रगट नहीं होती।

जिसप्रकार छिलके को तोड़कर मोर प्रगट होता है, उसीप्रकार पुण्य पाप के भावों को भेदकर आत्मा देखने से अर्थात् आत्मा में स्थिर होने से मोक्ष प्रगट होता है। उसी का नाम आलोचना एवं मुनिपना है।

मुनिराज कहते हैं कि **मैं अपने शुद्धात्मा का अवलम्बन करता हूँ, पश्चात् अपने में ही एकाग्र होकर कर्म का नाश करके सहज विलसती केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करूँगा।[३]''**

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि पुण्य-पापरूप शुभाशुभ भाव संसार के मूल (जड़) हैं और शुद्धात्मा के आश्रयरूप शुद्धभाव मोक्ष का मूल है। इसलिए अब मैं शुद्धभावरूप आत्मा का आश्रय लेकर कर्मों का नाशकर केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को प्राप्त करूँगा।

स्वामीजी भी अनेक उदाहरण देकर इसी बात को स्पष्ट करते हुए पुण्य-पाप का हेयत्व और शुद्धात्मा का उपादेयत्व सिद्ध करते हैं।।१५२।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८८६ २. वही, पृष्ठ ८८७ ३. वही, पृष्ठ ८८७

नियमसार गाथा १०८

अब आगामी गाथा में आलोचना के स्वरूप के भेदों की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आलोयणमालुंछणं वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए।।१०८।।

(हरिगीत)

आलोचनं आलुंछनं अर भावशुद्धि अविकृतिकरण।
आलोचना के चार लक्षण भेद आगम में कहे।।१०८।।

आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि ह्न ऐसे चार प्रकार आलोचना के लक्षण शास्त्रों में कहे गये हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह आलोचना के लक्षण के भेदों का कथन है।

अरहंत भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई, सभी जनसमूह के सौभाग्य का कारणभूत, सुन्दर आनन्दमयी अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि को समझने में कुशल मन:पर्ययज्ञानधारी गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई जो चतुर वचन रचना, उसके भीतर विद्यमान समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार सर्वस्वरूप शुद्ध निश्चय परम आलोचना के चार भेद हैं; जो आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों (गाथाओं) में कहे जायेंगे।''

इस गाथा एवं टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''स्वभाव को स्वभावरूप जाने और दोष को दोषरूप जाने तो अपने दोषों की आलोचना करके दोषों का त्याग करे; परन्तु जो जीव दोषों को ही गुण मानता हो, वह दोषों की आलोचना कैसे कर सकता है ?

स्वयं अपने दोषों को सूक्ष्मता से देख लेना या गुरु के समक्ष प्रगट

करना **आलोचन** है। पूर्व में किये हुये पुण्य-पापरूपी दोष मेरे स्वरूप में नहीं हैं ह्न ऐसा समझकर अपने स्वरूप में लीन होकर पुण्य-पाप को उखाड़ फेंकना **आलुंछन** है। पुण्य-पापरूपी विकृति का अभाव करके आत्मा को विकाररहित प्रगट करना **अविकृतिकरण** है और चैतन्यस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से भावों की शुद्धता होना **भावशुद्धि** है।

यह चार भेद व्यवहार से हैं, वास्तव में तो एक चैतन्य के अवलम्बन में ही यह चारों भेद आ जाते हैं।

भगवान की दिव्यध्वनि से ग्रहण करके गणधरदेव ने जो शास्त्रों की रचना की है, उनमें आलोचना के चार भेद कहे हैं।[१]

भगवान की दिव्यध्वनि का एवं गणधरदेव द्वारा रचित समस्त सिद्धान्तादि शास्त्रों का सार तो एक परमानन्दमूर्ति आत्मा को देखना और उसके आनन्द में लीन होना है, इसके अलावा पुण्य-पाप आस्रव आदि सारभूत नहीं है। **अन्तर्मुख होकर शुद्धात्मा का अनुभव करना ही सार है। बारम्बार चैतन्य की रुचि करना ही सारभूत है।**[२]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि आगम में आलोचना के चार भेद बताये गये हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। इन चारों के स्वरूप को आगामी चार गाथाओं के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं ही स्पष्ट कर रहे हैं। अत: उनके बारे में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।।१०८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(इन्द्रवज्रा)

आलोचनाभेदममुं विदित्वा
मुक्त्यंगनासंगमहेतुभूतम्।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीव:
तस्मै नम: स्वात्मनि निष्ठिताय।।१५३।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९० २. वही, पृष्ठ ८९१

(हरिगीत)

मुक्तिरूपी अंगना के समागम के हेतु जो।
भेद हैं आलोचना के उन्हें जो भवि जानकर॥
निज आतमा में लीन हो नित आत्मनिष्ठित ही रहें।
हो नमन बारंबार उनको जो सदा निजरत रहें॥१५३॥

मुक्तिरूपी अंगना (रमणी) के संगम के हेतुभूत आलोचना के इन चार भेदों को जानकर जो भव्यजीव निज आत्मा में स्थिति को प्राप्त करता है; उस स्वात्मा में लीन भव्यजीव को नमस्कार हो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आलोचना पर्याय को व्यवहार से मुक्ति का कारण कहा है। **वास्तव में तो आलोचना शुद्ध द्रव्य के आश्रय से प्रगट होती है, इसलिए मोक्ष का मूल कारण तो शुद्ध आत्मद्रव्य है ह्न** ऐसे आत्मा में जो लीन रहते हैं, उन सन्तों के लिए हमारा नमस्कार हो।[१]''

इसप्रकार इस छन्द में तो मात्र **उन भावलिंगी मुनिराजों को नमस्कार किया गया है; जो भगवान आत्मा के आश्रय से मुक्ति के कारणरूप आलोचना के इन चार भेदों को जानकर समभावपूर्वक निज आत्मा में स्थापित होते हैं॥१५३॥** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९२

असत्य या तो वाणी में होता है या ज्ञान में; वस्तु में नहीं। वस्तु में असत्य की सत्ता ही नहीं है। वस्तु को अपने ज्ञान और वाणी के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता और बनाने की आवश्यकता भी नहीं है। आवश्यकता अपने ज्ञान और वाणी को वस्तुस्वरूप के अनुरूप बनाने की है। जब ज्ञान और वाणी वस्तु के अनुरूप होंगे तब वे सत्य होंगे। जब आत्मा सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से वीतराग परिणाति प्राप्त करेगा, तब सत्यधर्म का धनी होगा। जितने अंश में प्राप्त करेगा, उतने अंश में सत्यधर्म का धनी होगा।

ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ७८

नियमसार गाथा १०९

अब आलोचना का स्वरूप कहते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं॥१०९॥

(हरिगीत)

उपदेश यह जिनदेव का परिणाम को समभाव में।
स्थाप कर निज आतमा को देखना आलोचनम्॥१०९॥

जो जीव परिणामों को समभाव में स्थापित कर निज आत्मा को देखता है; वह आलोचन है ह्न ऐसा जिनदेव का उपदेश जानो।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आलोचना के स्वीकारमात्र से परमसमताभावना कही गई है।

सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेनसमूह के सफेद शोभामंडल की वृद्धि के हेतुभूत पूर्णमासी के चन्द्रमा समान **जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार, अति अपूर्व, निरंजन, निजबोध के स्थानभूत कारणपरमात्मा को सम्पूर्णतया अन्तर्मुख करके निजस्वभावनिरत सहज अवलोकन द्वारा अपने परिणामों को समता में रखकर, परमसंयमीरूप से स्थित रहकर देखता है; यही आलोचन का स्वरूप है।** ऐसा, हे शिष्य तू परम जिननाथ के उपदेश से जान।

इसप्रकार यह आलोचना के भेदों में पहला भेद हुआ।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पहले तू यह जान कि वीतरागदेव आलोचना किसे कहते हैं ? यह जानकर तू अपने वीतराग परिणाम को आत्मा में स्थापित कर। **वर्तमान परिणाम स्वसन्मुख होने पर जो स्वभाव की स्वीकृति होती है,**

वही आलोचन है और उसमें ही परमसमता भाव प्रगट होता है। **जो अपने अन्तरङ्ग में अपने कारण परमात्मा को देखता है, उसे आलोचन होता है।**[१]

मुझे जगत का कोई पदार्थ अनुकूल-प्रतिकूल नहीं, मैं तो निर्विकल्प ज्ञायक मूर्ति हूँ ह्न ऐसी परमसमता श्रद्धा में प्रगट करना सम्यग्दर्शन धर्म है। जो जीव अपने परिणाम को समभाव में स्थापित करके परमसमता के आलम्बन पूर्वक अपने अन्तरङ्ग में विराजमान कारणपरमात्मा को देखता है, उसे निश्चय आलोचन होता है।[२]''

ध्यान रहे, यह आलोचना के प्रथम भेदरूप आलोचन का स्वरूप स्पष्ट करने वाली गाथा है। अत: इसमें आलोचना का नहीं, आलोचन का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

इस गाथा में मुख्यरूप से यही कहा गया है कि **जब यह आत्मा अन्तरोन्मुख होकर कारणपरमात्मारूप अपने आत्मा का अवलोकन करता है, आत्मा का अनुभव करता है; तब उसका यह अवलोकन ही निश्चय आलोचन है॥१०९॥**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज छह छन्द लिखते हैं, जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्थं।
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति॥
सोऽयं वंद्य: सुरेशैर्यमधरततिभि: खेचरैर्भूचरैर्वा।
तं वंदे सर्ववंद्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम्॥१५४॥

(हरिगीत)

जो आतमा को स्वयं में अविचलनिलय ही देखता।
वह आतमा आनन्दमय शिवसंगनी सुख भोगता॥
संयतों से इन्द्र चक्री और विद्याधरों से।
भी वंद्य गुणभंडार आतमराम को वंदन करूँ॥१५४॥

इसप्रकार जो आत्मा आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा में अविचल

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९४ २. वही, पृष्ठ ८९५

आवासवाला देखता है; वह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय मुक्तिलक्ष्मी के विलासों को अल्पकाल में प्राप्त करता है। वह आत्मा देवताओं के इन्द्रों से, विद्याधरों से, भूमिगोचरियों और संयम धारण करनेवालों की पंक्तियों से वंदनीय होता है। सबके द्वारा वंदनीय, सम्पूर्ण गुणों के भंडार उस आत्मा को उसमें विद्यमान गुणों की अपेक्षा से, अभिलाषा से मैं वंदन करता हूँ।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इन्द्रियों से, मन से अथवा राग से देखने की बात नहीं कही। यहाँ तो यह कहा है कि **जो अन्तर्मुख होकर आत्मा को आत्मा में आत्मा से देखता है, वह अतीन्द्रिय आनन्दमय मुक्तिसुख को प्राप्त करता है। पर्याय के अवलम्बन से भी आत्मदर्शन नहीं होता; बल्कि अभेद आत्मा के अवलम्बन से आत्मा का अवलोकन होता है।**

जो जीव अभेद आत्मा के अवलम्बन से आत्मा को देखता है, वह अल्पकाल में मुक्तिसुख प्राप्त करता है।

यहाँ मात्र आत्मा की ही बात है। जो जीव अन्तर्मुख होकर आत्मा की प्रतीति, आत्मा का वेदन और आत्मा का अनुभव करता है; वह शीघ्र मोक्ष सुख प्राप्त करता है ह्न यही मोक्षसुख प्राप्त करने का उपाय है। मोक्षसुख त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है, **वर्तमान परिणाम के आश्रय से मोक्षसुख प्रगट नहीं होता।**[१]

वास्तविक धर्म तो अन्तर्मुख आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता होने पर ही होता है। जो जीव ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा का अवलम्बन लेते हैं, वे अल्पकाल में मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं और मुनियों, देवेन्द्रों, विद्याधरों और राजाओं से वन्दनीय होते हैं।

ह्न ऐसे उस सर्ववंद्य सकल गुणनिधि आत्मा की मैं उसके गुणों की अपेक्षा से वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।[२]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९६ २. वही, पृष्ठ ८९७

इस छन्द में अत्यन्त भक्तिभाव से सिद्ध भगवान की स्तुति की गई है। कहा गया है कि जो भगवान आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में ही रहनेवाला जानता है, देखता है; वह आत्मा अल्पकाल में ही मुक्ति की प्राप्ति करता है, वहाँ प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है। **अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोक्ता वह भगवान आत्मा इन्द्रों, नरेन्द्रों, विद्याधरों, भूमिगोचरी राजाओं; यहाँ तक कि संयमी सन्तों के संघों से भी पूजा जाता है। सभी से वंदित उन सिद्ध भगवान को मैं भी सिद्धों में प्राप्त होनेवाले गुणों को प्राप्त करने की अभिलाषा से वंदन करता हूँ॥१५४॥**

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपंकेजमध्ये
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुंजः पुराणः।
सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गमस्मि-
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः॥१५५॥

(हरिगीत)

जगतजन के मन-वचन से अगोचर जो आतमा।
वह ज्ञानज्योति पापतम नाशक पुरातन आतमा॥
जो परम संयमिजनों के नित चित्त पंकज में बसे।
उसकी कथा क्या करें क्या न करें हम नहिं जानते॥१५५॥

जो पुराण पुरुष भगवान आत्मा उत्कृष्ट संयमी सन्तों के चित्तकमल में स्पष्ट है और जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापान्धकार के पुंज का नाश किया है; वह आत्मा संसारी जीवों के मन व वचन मार्ग से पार है, अगोचर है। इस अत्यन्त निकट परमपुरुष के संबंध में हम क्या विधि और क्या निषेध करें ?

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार सूर्य में अंधकार का अभाव है, उसीप्रकार चैतन्यसूर्य

की ज्ञानज्योति में पुण्य-पापरूपी अंधकार का अभाव है; इसलिए चैतन्यसूर्य द्वारा पुण्य-पाप का नाश किया जाता है ह्न ऐसा कहा है।[१]

मूल सूत्र (गाथा १०९) में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समताभाव की बात की, जिसमें से पद्मप्रभमलधारिदेव सिद्ध करते हैं कि भगवान आत्मा में विधि-निषेध के विकल्प का क्या काम? क्योंकि **विधि और निषेध के विकल्प विषमभाव हैं और ज्ञायकमूर्ति अनादि-अनन्त आत्मा समभावरूप है। जो ऐसे समभावस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है उसे 'यह करूँ' और 'यह छोड़ूँ' ह्न ऐसे विधि-निषेधरूप राग-द्वेष नहीं होते।?**[२]''

इस छन्द में पुराण पुरुष भगवान आत्मा की स्तुति की गई है। कहा गया है कि वह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा सन्तों के चित्त कमल में अत्यन्त स्पष्ट है। **तात्पर्य यह है कि संतगण उसके स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं। वह अपने ज्ञानस्वभाव से मोहान्धकार का नाशक है, अज्ञानी जनों के मन और वचन के जाल में नहीं आता, उनके लिए अगोचर है।**

इसप्रकार अत्यन्त निकटवर्ती परमपुरुष निजात्मा के बारे में हम क्या कहें, क्या न कहें; कुछ समझ में नहीं आता; क्योंकि वह विधि-निषेध के विकल्पों से पार है। **तात्पर्य यह है कि वह कैसा है और कैसा नहीं है; यह वाणी से कहे जाने योग्य नहीं है; अपितु अनुभवगम्य है।**

इस छन्द के बाद टीकाकार मुनिराज एक पंक्ति लिखते हैं, जिसका भाव यह है ह्न

''इसप्रकार इस पद्य के द्वारा परमजिनयोगीश्वर ने एकप्रकार से व्यवहार आलोचना के विस्तार का उपहास किया है, हँसी उड़ाई है, निरर्थकता बताई है।''

इस पंक्ति का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इसप्रकार इस पद्य द्वारा परम जिनयोगीश्वर ने वास्तव में व्यवहार-

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९८ २. वही, पृष्ठ ८९९

आलोचना के प्रपंच का उपहास किया है। **अरे ! चैतन्य के आँगन में शुभविकल्पों का क्या काम? हमें तो परमार्थ स्वरूप चैतन्य के आश्रय में ही विशुद्धता होती है; इसलिए वही परमार्थ आलोचन है।**

मूल सूत्र में निश्चय आलोचन का स्वरूप कहकर ऐसा कहा कि हे शिष्य! तू परम जिननाथ के उपदेश द्वारा निश्चय आलोचन के स्वरूप को जान। इसमें से टीकाकार आचार्य ने यह अर्थ निकाला कि अहो! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने चैतन्य के अवलोकन को ही आलोचन कहा है और व्यवहार आलोचन के विकल्पों की उपेक्षा की है।[१]

अज्ञानी कहता है कि अरे! तुम व्यवहार को ढीला करके उसकी उपेक्षा करते हो और निश्चय का आदर करते हो, परन्तु भाई! यह तो आचार्य भगवान का कथन है। **निश्चय स्वभाव के अवलम्बन से ही संवर होता है ह्न व्यवहार और विकल्पों से नहीं, ह्न ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।**[२]

ऐसा कहकर व्यवहार आलोचनरूप विधि-निषेध के विकल्पों का निषेध किया है। व्यवहार के विकल्प आते हैं, पर उनके अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।[३]''

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि **आत्मावलोकन (आत्मानुभव) रूप निश्चय आलोचना में सब कुछ समाहित है; क्योंकि मोक्ष का हेतु तो वही है,** व्यवहार आलोचना तो शुभभावरूप होने से बंध का ही कारण है। अत: वह उपेक्षा करने योग्य ही है।।१५५।।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम्।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम्।।१५६।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९९-९०० २. वही, पृष्ठ ९०० ३. वही, पृष्ठ ९००

(हरिगीत)

इन्द्रियरव से मुक्त अर अज्ञानियों से दूर है।
अर नय-अनय से दूर फिर भी योगियों को गम्य है।।
सदा मंगलमय सदा उत्कृष्ट आतमतत्त्व जो।
वह पापभावों से रहित चेतन सदा जयवंत है।।१५६।।

अज्ञानियों से अत्यन्त दूर, सभी इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न कोलाहल से विमुक्त, सदा शिवमय जो उत्कृष्ट आत्मतत्त्व है; वह नय-अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियों से गोचर है। पापों से रहित चैतन्यमय वह सहजात्मतत्त्व अत्यन्त जयवंत है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्यमय सहज शुद्धात्मतत्त्व जड़ द्रव्येन्द्रियों से तो भिन्न है ही, अन्तरंग में खण्ड-खण्डरूप भावेन्द्रियों से उत्पन्न संकल्प-विकल्परूप कोलाहल से भी रहित है। इन्द्रियों के ऊपर लक्ष्य करने से विकल्पों का कोलाहल उत्पन्न होता है, अन्तर्मुख चैतन्य वस्तु में इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होनेवाली अशान्ति नहीं है अर्थात् **चैतन्य के अवलम्बन में ही शान्ति की उत्पत्ति और अशान्ति का अभाव होता है ह्न इसका नाम धर्म है।**

चैतन्य के ज्ञानदर्शनोपयोग का व्यापार बाह्य इन्द्रियविषयों में होता है, वह अशान्तिरूप है, चाहे वह शुभरूप हो अथवा अशुभरूप; क्योंकि भगवान आत्मा तो शुभ-अशुभभाव के विकल्पों से रहित सदा ध्रुवत्वरूप से जयवन्त वर्तता है। ऐसे ध्रुवत्वरूप चैतन्य के अवलम्बन से ही धर्म प्रकट होता है।[१]

जिसप्रकार लेंडीपीपर बहुत काल तक रखी रहे, तो भी उसकी चौसठपुटी तिखास की शक्ति ज्यों की त्यों रहती है, नाश नहीं होती; उसीप्रकार **आत्मा पूर्व में अनन्तबार नरक-निगोद में रखड़ा, तो भी**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९०२

अभी ज्यों का त्यों पूर्ण जयवन्त वर्तता है। त्रिकाली शक्ति अभी भी अपनी सम्पूर्ण शक्तिपने विद्यमान है और मुनिराजों को अन्तरंग में उस परिपूर्ण चिदानंद शक्ति का अनुभव होता है; इसलिए कहते हैं कि अहो? यह सहजतत्व अत्यन्त जयवन्त वर्तता है।

ऐसे सहजतत्त्व की दृष्टि और महिमा करके उसमें स्थिर होना ही आलोचन और संवर है।[१]''

इस छन्द में चैतन्यमय सहजतत्त्व के जयवंत होने की घोषणा की गई है। कहा गया है कि **अज्ञानियों की पकड़ से अत्यन्त दूर, इन्द्रियों के कोलाहल से मुक्त और नय-अनय के विकल्पजाल में न आने पर भी योगियों के अनुभवज्ञान में सदा विद्यमान यह अनघ चिन्मय सहजतत्त्व सदा जयवंत वर्तता है।।१५६।।**

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमज्जन्तमेनं
बुद्ध्वा भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ।।१५७।।

(हरिगीत)

श्रीपरमगुरुओं की कृपा से भव्यजन इस लोक में।
निज सुख सुधासागर निमज्जित आतमा को जानकर।।
नित प्राप्त करते सहजसुख निर्भेद दृष्टिवंत हो।
उस अपूरब तत्त्व को मैं भा रहा अति प्रीति से।।१५७।।

निजात्मा के आश्रय से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के सागर में डुबकी लगाते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर भव्यजीव परमगुरु के सहयोग से शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिए भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न सुख से शुद्ध है ह्न ऐसे सहज तत्त्व को मैं भी अत्यपूर्व रीति से अत्यन्त भाता हूँ।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९०४

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''परमगुरु से प्रसाद से और स्वयं की पात्रता से भव्यजीव सहज शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करके, उसमें ही स्थिर होकर मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं। वह सहजतत्त्व ही परम उपादेय है। इसलिए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारि देव कहते हैं कि 'भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि हुई है, उससे उत्पन्न सौख्य के द्वारा जो शुद्ध है ह्न ऐसे किसी अद्भुत सहजतत्त्व को मैं सदा अति अपूर्व रीति से भाता हूँ।'

देखो, मुनियों की ऐसी भावना होती है। जिसे व्यवहार की, भेद की भावना होती है तथा उसके आश्रय में सुख दिखाई देता है, उसे मोक्ष सुख प्राप्त नहीं होता, और जो भव्यजीव शुद्धात्मा को जानकर उसकी भेदरहित भावना करते हैं, उसमें ही एकाग्र होते हैं; वे जीव मुक्ति सुख प्राप्त करते हैं।[१]''

इस छन्द में सहजतत्त्व अर्थात् निज शुद्धात्मा की भावना भाई गई है। कहा गया है कि **आनन्द के कन्द, ज्ञान के घनपिण्ड निज शुद्धात्मा के ज्ञान, श्रद्धान एवं अनुष्ठान से अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है; इसलिए मैं उक्त सहजतत्त्व की अनुभूति करने की भावना भाता हूँ,** कामना करता हूँ।।१५७।।

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

निर्मुक्तसंगनिकरं परमात्मतत्त्वं
निर्मोहरूपमनघं परभावमुक्तम्।
संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं
निर्वाणयोषिदतनूद्भवसंमदाय ।।१५८।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९०६

(हरिगीत)

सब ग्रन्थ से निर्ग्रन्थ शुध परभावदल से मुक्त है।
निर्मोह है निष्पाप है वह परम आतमतत्त्व है॥
निर्वाणवनिताजन्यसुख को प्राप्त करने के लिए।
उस तत्त्व को करता नमन नित भावना भी उसी की॥१५८॥

सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त, निर्मोहरूप, पापों से रहित और परभावों से मुक्त परमात्मतत्त्व को; मुक्तिरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति के लिए नित्य नमन करता हूँ, सम्भावना करता हूँ, सम्यक्रूप से भाता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्य शुद्धात्मतत्त्व, समस्त परद्रव्यों के संग से रहित असंग है; उसमें किसी परद्रव्य का संग नहीं है। तथा वह किसी परद्रव्य के संयोग से प्राप्त नहीं होता। देव-शास्त्र-गुरु का संग भी चैतन्य वस्तु में नहीं है।

स्वरूप की सावधानी के अलावा किसी भी परद्रव्य की सावधानी करना मोह है, और चैतन्यस्वभाव मोह से रहित निर्मोह है।

समस्त पुण्य-पाप से पार तथा समस्त परभावों से मुक्त (रहित) ह्न ऐसे परमात्मतत्त्व की भावना ही मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख की कारण है। इसलिये मैं अशरीरी सुख के लिए सदा सम्यक्पने परमात्मतत्त्व को भाता हूँ, प्रणाम करता हूँ और उसमें ही स्थिर होता हूँ।[१]''

इस छन्द में मुक्ति प्राप्त करने की भावना से परमात्मतत्त्व की संभावना की गई है, उसे नमन किया गया है। कहा गया है कि **अंतरंग और बहिरंग ह्न सभी २४ परिग्रहों से मुक्त, पापभावों से रहित, परभावों से भिन्न, निर्मोही परमात्मतत्त्व को; शिवरमणी के रमण से प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द की भावना से नमन करता हूँ और उनकी भली प्रकार संभावना करता हूँ॥१५८॥**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९०६-९०७

छठवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि।
संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं
निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम्॥१५९॥

(हरिगीत)

भिन्न जो निजभाव से उन विभावों को छोड़कर।
मैं करूँ नित चिन्मात्र निर्मल आतमा की भावना॥
कर जोड़कर मैं नमन करता मुक्ति मारग को सदा।
इस दुखमयी भव-उदधि से बस पार पाने के लिए॥१५९॥

निजभाव से भिन्न सभीप्रकार के विभाव भावों को छोड़कर एक निर्मल चिन्मात्र भाव को भाता हूँ। संसार सागर से पार उतरने के लिए जिनागम में भेद से रहित कहे गये मुक्तिमार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पहले अभेद आत्मतत्त्व को नमस्कार किया और अब उसके आश्रय से प्रगट होनेवाले वीतराग मुक्तिमार्ग को नमस्कार करता हूँ। इसके अलावा रागादि को या भेद की भावना को थोड़ा भी नमस्कार नहीं करता अर्थात् उन्हें किंचित् भी उपादेय नहीं मानता।[१]''

इस छन्द में निजभावरूप चिन्मात्रभाव की भावनापूर्वक मुक्तिमार्ग को नमन किया गया है। कहा गया है कि **मैं निजभाव से भिन्न सभीप्रकार के विभावभावों से रहित निर्मल चिन्मात्रभाव की भावना भाता हूँ और संसारसागर से पार उतरने के लिए अभेदरूप मुक्तिमार्ग को बारंबार नमन करता हूँ॥१५९॥** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९०९

नियमसार गाथा ११०

विगत गाथा में परम-आलोचना के प्रथम भेद आलोचन की चर्चा की गई और अब इस गाथा में परम-आलोचना के दूसरे भेद आलुंछन की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं।।११०।।

(हरिगीत)

कर्मतरु का मूल छेदक जीव का परिणाम जो।
समभाव है बस इसलिए ही उसे आलुंछन कहा।।११०।।

कर्मरूपी वृक्ष के मूल (जड़) को छेदने में समर्थ समभावरूप परिणाम को आलुंछन कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमभाव के स्वरूप का कथन है।

भव्यजीवों का परमपारिणामिकभावरूप स्वभाव होने से जो परम-स्वभाव है; वह परमस्वभाव औदयिकादि चार विभावस्वभावों से अगोचर होने से पंचमभाव कहा जाता है। वह पंचमभाव उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम ह्न इन विविध विकारों से रहित है। इसकारण से इस एक पंचमभाव को ही परमपना है, शेष चार विभावभाव अपरमभाव हैं।

समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को मूल से उखाड़ देने में समर्थ वह परमभाव; त्रिकाल निरावरण निज कारणपरमात्मा के स्वरूप की श्रद्धा से प्रतिपक्ष (विरुद्ध) तीव्र मिथ्यात्वकर्म के उदय के कारण कुदृष्टियों को, सदा विद्यमान होने पर भी निश्चयनय से अविद्यमान ही है।

नित्यनिगोद के जीवों को भी, वह परमभाव शुद्धनिश्चयनय से अभव्यत्वपारिणामिक नाम से संभव नहीं है।

जिसप्रकार सुमेरु पर्वत के अधोभाग में स्थित सुवर्णराशि को भी

स्वर्णपना है; उसीप्रकार अभव्यों को भी परमस्वभावपना है। ध्यान रहे वह परमस्वभाव वस्तुनिष्ठ है, व्यवहारयोग्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार सुमेरु की तलहटी में विद्यमान सोना यद्यपि विद्यमान है, तथापि वह कभी उपयोग में नहीं लाया जा सकता; उसीप्रकार यद्यपि अभव्य के भी परमस्वभाव विद्यमान है; तथापि उसके आश्रय से पर्याय में मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती।

सुदृष्टियों को अर्थात् अति आसन्न भव्यजीवों को यह परमस्वभाव सदा निरंजनपने के कारण अर्थात् निरंजनरूप से प्रतिभासित होने के कारण सफल हुआ है; इसकारण इस परमपंचमभाव द्वारा अति-आसन्न भव्यजीव को निश्चय परम-आलोचना के भेदरूप उत्पन्न होनेवाला **आलुंछन** नाम सिद्ध होता है; क्योंकि वह परमभाव समस्त कर्मरूपी विषम विषवृक्ष के विशाल मूल (मोटी जड़) को उखाड़ देने में समर्थ है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''परमशुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से समस्त विकारी भावों को उखाड़ फेंकने का नाम आलुंछन है।

आत्मा में एकाग्रता करना धर्म है। इसलिए जिन्हें धर्म करना हो, उन्हें निजात्मा में एकाग्रता करनी चाहिए। आत्मा में एकाग्र होने का गुण तो है, पर वह अनादिकाल से पर में एकाग्र हो रहा है, अपनी विपरीत मान्यता के कारण पुण्य-पाप में एकाग्र हो रहा है।

आत्मस्वभाव में एकाग्र होने के लिए उसके परमपारिणामिक भाव का यथार्थ स्वरूप बताते हैं। यह गाथा बहुत ही अलोकिक है। इसमें त्रिकालीध्रुव परमपारिणामिकभाव की अलौकिक महिमा बताई है।[१]

इस गाथा में त्रिकालीध्रुव आत्मा का ही परमभाव के रूप में वर्णन किया है। **जिसमें अनन्त गुणों की निर्मलता प्रगट करने की शक्ति**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९११

त्रिकाल होती है, उसे परमभाव कहते हैं और उसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है।[१]

समयसार में जिसे ज्ञायकभाव कहा है, उसे ही यहाँ परमपारिणामिक भाव कहा है। परमपारिणामिक भाव त्रिकाली स्वभाव है, ध्रुवरूप रहनेवाला भाव है, सदा एकरूप रहनेवाला भाव है।[२]

कर्मवृक्ष की जड़ उखाड़ना पर्याय है, लेकिन वह पर्याय परमस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होती है, इसलिए परमस्वभाव को ही कर्मरूपी वृक्ष की जड़ उखाड़नेवाला कहा है। वास्तव में परमस्वभाव में कर्म का त्रिकाल अभाव ही है।[३]

समस्त जीवों को यह परमस्वभाव निश्चय से विद्यमान होते हुए भी, जिसे इसका भान नहीं है ह्न ऐसे कुदृष्टि मिथ्यादृष्टि को तो अविद्यमान ही है।[४]

जब पर्याय अन्तर्मुख होकर परमात्मतत्त्व का आश्रय करती है, तब आसन्नभव्यजीव के पुण्य-पापरूप विकार की जड़ें उखड़ जाती है। इसका नाम **आलुंछन** है। स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष-मोह की जड़ें उखाड़ फैंकने का नाम **आलुंछन** है और यही संवर है।

शरीरादि और पुण्य-पाप तो **दूरवर्ती बाह्यतत्त्व हैं** और संवर-निर्जरारूप निर्मलपर्याय **निकटवर्ती बाह्यतत्त्व हैं।**

संवर-निर्जरा आत्मा की शुद्धपर्यायें हैं, फिर भी त्रिकाली शक्ति की अपेक्षा इन प्रगट पर्यायों को बाह्यतत्त्व कहा है। त्रिकाली ध्रुवशक्ति अन्तःतत्त्व है और उसके आश्रय से प्रगट हुई निर्मलपर्याय बाह्यतत्त्व है; क्योंकि **पर्याय के आश्रय से निर्मलता या धर्म नहीं होता। त्रिकाली ध्रुव अंतस्तत्त्व परमपारिणामिकभाव त्रिकाल सिद्धस्वरूप है। उसके ही आश्रय से आसन्नभव्यजीव को निश्चय आलोचना उत्पन्न होती है।**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९१३ २. वही, पृष्ठ ९१४
३. वही, पृष्ठ ९१६ ४. वही, पृष्ठ ९१७

यह आलुंछन निश्चय परम-आलोचना का प्रकार है, वीतरागी भाव है। यह निर्मलपर्यायरूप बाह्यतत्त्व परलक्ष्य करने से प्रगट नहीं होता, यह तो अंतरंगस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है।[१]

समस्त कर्म विषम विषवृक्ष है। पाप तो विषम विष है ही, परन्तु पुण्य भाव भी विषम विष का झाड़ है। उस विषवृक्ष की जड़ मिथ्यात्व है।

परमपारिणामिकस्वभाव का आश्रय करने पर ही इस विषवृक्ष की जड़ें उखड़ती हैं। **चैतन्यस्वरूप सहज परमभाव चौरासी के जनम-मरण के विषवृक्ष को जड़ से उखाड़ फैंकता है। सम्यग्दृष्टि को ऐसे परमभाव की दृष्टि होती है, उसे पर्यायबुद्धि नहीं होती।**[२]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यह बताया गया है कि परमपारिणामिकभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ आत्मावलोकन (आत्मानुभूति) रूप पर्याय ही आलुंछन नामक आलोचना है। यह निश्चय आलुंछनरूप आलोचना का स्वरूप है।

परमपारिणामिकभावरूप परमभाव पुण्य-पापरूप समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को जड़मूल से उखाड़ फैंकने में समर्थ है।

यद्यपि यह परमभाव मिथ्यादृष्टियों के भी विद्यमान है; तथापि अविद्यमान जैसा ही है; क्योंकि उसके होने का लाभ उन्हें प्राप्त नहीं होता।

इस बात को यहाँ सुमेरु पर्वत की तलहटी में विद्यमान स्वर्णराशि के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है। विद्यमान होने पर भी जिसप्रकार उक्त स्वर्ण का उपयोग संभव नहीं है; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टियों के लिए उक्त परमभाव का उपयोग संभव नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि नित्यनिगोद के जीवों को भी, वह परमभाव शुद्धनिश्चयनय से अभव्यत्वपारिणामिकभाव नाम से संभव नहीं है ह्न टीका में समागत इस कथन का भाव ख्याल में नहीं आया।

इस प्रकरण का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''निश्चय की दृष्टि से तो समस्त जीवों का परमस्वभाव ज्यों का

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२१-९२२ २. वही, पृष्ठ ९२२

त्यों त्रिकाल एकरूप ही है, शुद्धनिश्चयनय से वह परमपारिणामिकभाव नित्यनिगोद के जीवों के भी पाया जाता है; क्योंकि **शुद्धनिश्चय में तो समस्त जीवों को परमस्वभाव ही है। अभव्यत्वपारिणामिकभाव व्यवहार नय का विषय है।** अभव्यजीव के मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता नहीं है। ह्न यह भी शुद्धनिश्चयनय में लागू नहीं पड़ता, शुद्धनिश्चयनय से तो समस्त जीव परमपारिणामिकभाव स्वरूप ही है।[१]''

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि परमभाव सभी जीवों के पाया जाता है और वह परमभाव परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। इसकारण परमशुद्धनिश्चयनय से व्यवहारनय के विषयभूत अभव्यत्व-पारिणामिकभाव को परमभाव नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अभव्यत्व-रूप पारिणामिकभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति संभव नहीं है।।११०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

एको भाव: स जयति सदा पंचम: शुद्धशुद्ध:
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो य:।
मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणां
एकाकार: स्वरसविसरापूर्णपुण्य: पुराण: ।।१६०।।

(हरिगीत)

हैं आत्मनिष्ठा परायण जो मूल उनकी मुक्ति का।
जो सहजवस्थारूप पुण्य-पाप एकाकार है।।
जो शुद्ध है नित शुद्ध एवं स्वरस से भरपूर है।
जयवंत पंचमभाव वह जो आत्मा का नूर है।।१६०।।

जो कर्म से दूरी के कारण प्रगट सहजावस्थारूप विद्यमान है, आत्मनिष्ठ सभी मुनिराजों की मुक्ति का मूल है, एकाकार है, निजरस के विस्तार से भरपूर होने के कारण पवित्र है, सनातन पुराण पुरुष है; वह शुद्ध-शुद्ध एक पंचमभाव सदा जयवंत है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९१७-९१८

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आसन्नभव्य सम्यग्दृष्टि जीव अपने परमशुद्ध कारणपरमात्मा के आश्रय से संसार के मूल (जड़) को उखाड़ डालता है, इसका नाम ही आलुंछन है और यह निश्चय आलोचना का एक प्रकार है।

अनादि संसार से जीव ने एक क्षण मात्र भी ऐसी आलोचना नहीं की है; क्योंकि ऐसी आलोचना करनेवाले को शुद्धभाव प्रगट होकर मुक्ति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती।

निश्चय आलोचना कहो, संवर कहो, धर्म कहो ह्न यह अनादिकाल से प्रगट क्यों नहीं हुआ और अब कैसे प्रगट होगा? ह्न यह दोनों बातें इस छन्द में बताई गई हैं।[१]''

इस छन्द में सदा जयवन्त पंचमभाव का माहात्म्य बताया गया है। कहा गया है कि यह परमपारिणामिकभावरूप पंचमभाव आत्मनिष्ठ मुनिराजों की मुक्ति का मूल है, परमपवित्र है, एकाकार है, अनादि-अनन्त सनातन सत्य है। ऐसा यह एक शुद्ध-शुद्ध पंचमपरमभाव सदा जयवंत है।

ध्यान रहे यहाँ परमपंचमभाव की शुद्धता पर विशेष वजन डालने के लिए शुद्ध पद का प्रयोग दो बार किया गया है। तात्पर्य यह है कि यह परमभाव स्वभाव से तो शुद्ध है ही, पर्याय की शुद्धता का भी एकमात्र आश्रयभूत कारण है।।१६०।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आसंसारादखिलजनतातीव्रमोहोदयात्सा
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुम्भमंडलं शुद्धभावं
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति ।।१६१।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२३-९२४

(हरिगीत)

इस जगतजन की ज्ञानज्योति अरे काल अनादि से।
रे मोहवश मदमत्त एवं मूढ है निजकार्य में ।।
निर्मोह तो वह ज्ञानज्योति प्राप्त कर शुधभाव को।
उज्ज्वल करे सब ओर से तब सहजवस्था प्राप्त हो ।।१६१।।

अनादि संसार से समस्त जनसमूह की तीव्र मोह के उदय के कारण जो ज्ञानज्योति निरंतर मत्त है, काम के वश है और निजकार्य में विशेषरूप से मुग्ध है, मूढ है; वही ज्ञानज्योति मोह के अभाव से उस शुद्धभाव को प्राप्त करती है कि जिस शुद्धभाव ने सभी दिशाओं को उज्ज्वल किया है और सहजावस्था प्राप्त की है।

उक्त छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अपने शुद्ध स्वभाव का भान होते ही मोह का अभाव होकर ज्ञानज्योति शुद्धभाव को प्राप्त करती है। जो पहले काम के वश थी, अब उसके बदले वही ज्ञानज्योति शुद्धभाव से दिशामंडल को प्रकाशित करती है अर्थात् वह ज्ञानज्योति चारों तरफ से उज्ज्वल हो गई है, सहज अवस्था को प्रगट हो गई है। ऐसी ज्ञानज्योति का प्रगट होना ही धर्म है, संवर है, आलोचना है।[१]''

उक्त छन्द में ज्ञानज्योति की महिमा बताई गई है। कहा गया है कि **मोह के सद्भाव में अनादिकाल से समस्त संसारीजीवों की जो ज्ञानज्योति मत्त हो रही थी, काम के वश हो रही थी; वही ज्योति मोह के अभाव में शुद्धभाव को प्रगट करती हुई सभी दिशाओं को उज्ज्वल करती है और सहजावस्था को प्राप्त करती है।** ज्ञानज्योति का सम्यग्ज्ञान के रूप स्फुरायमान होना ही आलुंछन है, आलुंछन नाम की आलोचना है, निश्चय आलोचना है।।१६१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२४

नियमसार गाथा १११

विगत दो गाथाओं में परमालोचना के आरंभिक दो भेद आलोचन एवं आलुंछन की क्रमश: चर्चा की। अब इस गाथा में तीसरे भेद अविकृतिकरण की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं ति विण्णेयं।।१११।।

(हरिगीत)

निर्मलगुणों का निलय आतम कर्म से भिन जीव को।
भाता सदा जो आतमा अविकृतिकरण वह जानना ।।१११।।

जो मध्यस्थभावना में कर्म से भिन्न, विमलगुणों के आवासरूप अपने आत्मा को भाता है; उस जीव को अविकृतिकरण जानना चाहिए।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष का कथन है।

पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान जो जीव; द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न; सहजगुणों के आवास निज आत्मा को माध्यस्थभाव से भाता है; उस जीव को अविकृतिकरण नामक परम-आलोचना का स्वरूप वर्तता ही है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मद्रव्य द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित सहज गुणों का निधान है। जो जीव उसका ध्यान करता है, उसके विकार का नाश होकर सहज गुण प्रगट होते हैं। **सर्वप्रथम यह बात सुनकर इसका विचार और धारणा करके बार-बार इसी का चिंतन होना चाहिए, पश्चात् अन्दर में उसका परिणमन होते ही अविकारी दशा प्रगट होती**

है। जो पर्याय चैतन्यस्वरूप आत्मा को विषय बनाती है, उस पर्याय को परम आलोचना होती है।[१]''

परम-आलोचना के अविकृतिकरण नामक भेद की चर्चा करनेवाली इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि **पापरूपी भयानक जंगल को जलाने में समर्थ यह आत्मा; जब द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न एवं सहज गुणों के आवास इस भगवान आत्मा को मध्यस्थ भाव से भाता है, उसकी आराधना करता है; तब वह आराधक आत्मा अविकृतिकरणस्वरूप ही है** ह्न ऐसा जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि उक्त आत्मा अविकृतिकरण नामक आलोचना करनेवाला है, परमालोचक है।।१११।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज नौ छन्द लिखते हैं; जिसमें पहला और दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे-
रन्तःशुद्धः शमदमगुणाम्भोजिनीराजहंसः।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं
नित्यानंदाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः।।१६२।।

अक्षय्यान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावामृताम्भो-
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहः कलंकः।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरणग्रामकोलाहलात्मा
ज्ञानज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति।।१६३।।

(हरिगीत)

अरे अन्तःशुद्ध शम-दमगुणकमलनी हंस जो।
आनन्द गुण भरपूर कर्मों से सदा है भिन्न जो।।
चैतन्यमूर्ति अनूप नित छोड़े न ज्ञानस्वभाव को।
वह आत्मा न ग्रहे किंचित् किसी भी परभाव को।।१६२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२७

अरे निर्मलभाव अमृत उदधि में डुबकी लगा।
धोये हैं पापकलंक एवं शान्त कोलाहल किया।।
इन्द्रियों से जन्य अक्षय अलख्व गुणमय आतमा।
रे स्वयं अन्तर्ज्योति से तम नाश जगमग हो रहा।।१६३।।

द्रव्यकर्म और नोकर्म के समूह से सदा भिन्न, अन्तःशुद्ध, शम-दम आदि गुणरूपी कमलनियों का राजहंस, नित्यानंदादि अनुपम गुणोंवाला और चैतन्यचमत्कार की मूर्ति ह्न ऐसा यह आत्मा मोह के अभाव के कारण सभी प्रकार के सभी परभावों को ग्रहण ही नहीं करता।

जिसने अत्यन्त निर्मल शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में पापकलंकों को धो डाला है और इन्द्रियसमूह के कोलाहल को नष्ट कर दिया है तथा जो अक्षय अन्तरंग गुण मणियों का समूह है; वह शुद्ध आत्मा ज्ञान ज्योति द्वारा अंधकारदशा का नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है।

इन छन्दों के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो! अन्दर से आलोचना का उत्साह उछलता होने से टीकाकार आचार्यदेव ने नौ-नौ छन्द लिख दिये हैं। **साधारण जीवों को तो भावलिंगी संतों का हृदय पहिचानना ही कठिन है।**

अन्दर में स्वस्वभाव का जोर आया है, आत्मध्यान की मस्ती में झूलते-झूलते सहज छन्दों की रचना हो गयी है। अन्दर में चिदानन्द चैतन्य की धुन जमी है, उस स्वभाव की धुन में राग को भूल गये हैं ह्न इसलिए सहजपने जो उपमा ध्यान में आ गई, उस उपमा को देकर वर्णन किया है। **स्त्री आदि की उपमा दी, उसमें राग नहीं है, परन्तु स्वभाव की धुन है, स्वभाव की मस्ती में राग को तो भूल गये हैं।**[१]

आचार्यदेव कहते हैं कि स्वभाव की दृष्टि कर और पर्याय में विकार होने पर भी उसकी दृष्टि छोड़। त्रिकाली एकरूप स्वभाव में केलि करनेवाला आत्मा मोह का अभाव होने से समस्त परद्रव्य और परभाव

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२८

को ग्रहण नहीं करता अर्थात् वह स्वभाव से अविकृत ही रहता है। विकारी भावों को ग्रहण नहीं करता। **त्रिकाली स्वभाव में तो विकार का ग्रहण है ही नहीं और उस स्वभाव का आश्रय करनेवाली पर्याय में भी विकार का संवर हो जाता है।**[१]

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव यहाँ आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा सदा अन्तरंग में अक्षय गुणमणियों का समूह है। जिसने सदा ही सहज स्वभावरूपी अमृत के समुद्र में पापरूपी कलंक को धो डाला है। चैतन्यसमुद्र में पापकलंक तो है ही नहीं। अरे जीव! ऐसे चैतन्य-समुद्र भगवान आत्मा का पहले विश्वास तो कर! विश्वास तो कर!!, क्योंकि उस चैतन्यस्वरूप में कोई कलंक नहीं है।[२]

त्रिकाली निर्मल स्वभावशक्ति की प्रतीति करने पर अर्थात् उसका आश्रय करने पर निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है और सदैव ही सिद्धपने परिणमन होता रहता है। **एक शुद्धता नयी प्रगट होती है और दूसरी शुद्धता अनादि की है अर्थात् स्वभाव की शुद्धता अनादि की होती है और पर्याय में शुद्धता नवीन उत्पन्न हुई है। जैसे सिद्ध भगवान अनादि से ही हैं; उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव भी अनादि से सिद्ध समान ही है। जैसे स्वरूप का आश्रय लेने पर नवीन सिद्धदशा प्रगट होती है; उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में भी नवीन शुद्धभाव प्रगट होता है।**[३]''

उक्त दोनों छन्दों में भगवान आत्मा के ही गीत गाये गये हैं। पहले छन्द में आत्मा को शम-दम आदि गुणरूपी कमलनियों का राजहंस कहा गया है। जिसप्रकार मानसरोवर जैसे सरोवरों में खिलनेवाली कमलनियों के साथ वहाँ रहनेवाला राजहंस क्रीड़ायें करता रहता है;

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२९
२. वही, पृष्ठ ९२९-९३०
३. वही, पृष्ठ ९३०

उसीप्रकार **यह भगवान आत्मा स्वयं में ही जो शम-दम आदि गुणरूपी कमलनी हैं; उनके साथ क्रीड़ा करता है।**

यहाँ आत्मा के द्रव्यस्वभाव को सरोवर, उसमें रहनेवाले गुणों को कमलनी और वर्तमान निर्मल पर्याय को राजहंस के स्थान पर रखा गया है।

तात्पर्य यह है कि निर्मल पर्याय के धनी ज्ञानीजन अपने आत्मा में विद्यमान गुणों के साथ ही केलि किया करते हैं। उन्हें बाहर निकलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

यहाँ मैं आपका ध्यान एक बात की ओर विशेष खींचना चाहता हूँ कि यहाँ **'शमदमगुणाम्भोजनी'** पद है, जिसका अर्थ **शम-दम गुणरूपी कमलनी ही हो सकता है, कमल नहीं। हंस का कमल के साथ क्रीड़ा करने के स्थान पर कमलनी के साथ क्रीड़ा की बात ही अधिक उपयुक्त लगती है।**

पहले छन्द में बाहर निकलने की आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द की सभी सामग्री अन्दर विद्यमान है ह्न यह कहा है और दूसरे छन्द में स्वयं स्वयं में ही प्रकाशित होता रहता है ह्न यह कहा है। तात्पर्य यह है कि उसे प्रकाशित होने के लिए भी पर की आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा स्वयं में ही परिपूर्ण है, उसे अन्य की कोई आवश्यकता नहीं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब आपने कमलनी अर्थ किया ही है तो फिर इस स्पष्टीकरण की क्या आवश्यकता है ?

अरे भाई ! अबतक **शमदमगुणाम्भोजनि** का अर्थ शम-दमगुणरूपी कमल किया जाता रहा है। अम्भोज का अर्थ होता है कमल। जिसकी उत्पत्ति अंभ माने जल में हो, वह अम्भोज। अम्भोज का स्त्री लिंग **अम्भोजनि** हुआ। इसप्रकार अम्भोजनि का अर्थ कमलनी होता है।।१६२-१६३।।

तीसरा और चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

संसारघोरसहजादिभिरेव रौद्रै–
र्दु:खादिभि: प्रतिदिनं परितप्यमाने ।
लोके शमामृतमयीमिह तां हिमानीं
यायादयं मुनिपति: समताप्रसादात् ।।१६४।।

मुक्त: कदापि न हि याति विभावकायं
तद्धेतुभूतसुकृतासुकृतप्रणाशात् ।
तस्मादहं सुकृतदुष्कृतकर्मजालं
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि ।।१६५।।

(रोला)

अरे सहज ही घोर दु:ख संसार घोर में ।
प्रतिदिन तपते जीव अनंते घोर दु:खों से ।।
किन्तु मुनिजन तो नित समता के प्रसाद से ।
अरे शमामृत हिम की शीतलता पाते हैं ।।१६४।।
रे विभावतन मुक्त जीव तो कभी न पाते ।
क्योंकि उन्होंने सुकृत-दुष्कृत नाश किये हैं ।।
इसीलिए तो सुकृत-दुष्कृत कर्मजाल तज ।
अरे जा रहा हूँ मुमुक्षुओं के मारग में ।।१६५।।

घोर संसार में सहज ही होनेवाले भयंकर दु:खों से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले इस लोक में मुनिराज समताभाव के प्रसाद से समतारूपी अमृतमयी बर्फ के ढेर जैसी ठंडक अर्थात् शान्ति प्राप्त करते हैं।

मुक्तजीव विभावरूप काय (शरीर) को कभी प्राप्त नहीं होते; क्योंकि उन्होंने शरीर संयोग के हेतुभूत सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) का नाश कर दिया है। इसलिए अब मैं सुकृत और दुष्कृत कर्मजाल को छोड़कर एक मुमुक्षुमार्ग में जाता हूँ।

इन छन्दों के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिकाली आत्मा त्रिकाल सहज सुखमय है और इससे विरुद्ध उक्त विकारभाव संसार है, वह सहज दु:खमय ही है। विकार स्वयं तो दु:खरूप है ही और उसमें भी असाता के वेदन से घोर दु:खमय है। पर का आश्रय दु:ख ही है। **चिदानंदस्वभाव के अलावा इस जगत में दूसरा कोई भी सुखमय अथवा सुखकारी नहीं है।** साता के वेदन का भाव भी दु:खरूप ही है ह्न ऐसा नक्की करके चैतन्यसन्मुख होने पर ही दु:ख का अभाव होकर सहज शान्ति प्रगट होती है।[१]

जितना पर के आश्रय का भाव है, वह सभी जमशेदपुर की भट्टी जैसा दु:ख से सुलगा हुआ संसार है और इससे विरुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा परम शीतलस्वरूप सुखशांति का पिण्ड है। उसके आश्रय से मुनिराज अकषायी वीतरागी हिमराशि को प्राप्त करते हैं।

देखो, इस संसार के दु:ख से छूटने का उपाय! अन्तरंग में उपशम रस के कंदस्वरूप भगवान आत्मा में स्थिर होना ही दु:ख से छूटने का उपाय है; क्योंकि वहाँ शान्ति है। मुनिराज समता के प्रसाद से उस परमसुखमय शान्ति को प्राप्त करते हैं।

अब आचार्य कहते हैं कि मुक्त जीवों की तरह मैं भी समस्त सुकृत और दुष्कृत कर्मजाल को छोड़कर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता हूँ।[२]

जिस मार्ग पर मुमुक्षु चले हैं, उसी मार्ग पर मैं भी जाता हूँ; क्योंकि जितने जीव सिद्ध हुए हैं, उन सभी ने सुकृत तथा दुष्कृत के अभावपूर्वक चैतन्यस्वभाव में स्थिर होकर मुक्तदशा प्राप्त की है। यही एक मार्ग है।

सभी मुमुक्षुओं के लिए मुक्ति का मार्ग एक ही है। बाह्य पदार्थों पर लक्ष्य करना मुक्तिमार्ग नहीं है। अन्तरस्वभाव के निर्णयपूर्वक, उसमें एकाग्र होना ही मुक्तिमार्ग है।[३]''

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९३१
२. वही, पृष्ठ ९३२
३. वही, पृष्ठ ९३३

उक्त दोनों छन्दों में मात्र यही कहा गया है कि यद्यपि इस अपार घोर संसार में अनन्त जीव आकुलतारूपी भट्टी में निरंतर जल रहे हैं, अनन्त दु:ख भोग रहे हैं; तथापि **मुनिजन तो समताभाव के प्रसाद से समतारूपी अमृत के बर्फीले गिरि पर विराजमान हैं और अनंत शीतलता का अनुभव कर रहे हैं, सुख-शान्ति में लीन हैं।**

सभी प्रकार के सुकृत और दुष्कृतों से मुक्त सिद्ध जीव कभी भी विभावभावरूप काया में प्रवेश नहीं करते, इसलिए **मैं भी अब सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) के कर्मजाल को छोड़कर मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ।** जिस निष्कर्म वीतरागी मार्ग पर मुमुक्षु लोग चलते हैं; मैं भी उसी मार्ग को अंगीकार करता हूँ।

पाँचवाँ और छठवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

प्रपद्येऽहं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रहम्।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम् ।।१६६।।
अनादि मम संसाररोगस्यागदमुत्तमम्।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ।।१६७।।

(दोहा)

अस्थिर पुद्गलखंध तन तज भवमूरत जान।
सदा शुद्ध जो ज्ञानतन पाया आतम राम ।।१६६।।
शुध चेतन की भावना रहित शुभाशुभभाव।
औषधि है भव रोग की वीतरागमय भाव ।।१६७।।

पौद्गलिक स्कंधों से निर्मित यह अस्थिर शरीर भव की मूर्ति है, मूर्तिमान संसार है। इसे छोड़कर मैं ज्ञानशरीरी सदा शुद्ध भगवान आत्मा का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

शुभाशुभभावों से रहित शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसार रोग की उत्कृष्ट औषधि है।

स्वामीजी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह शरीर अनन्त पुद्गल परमाणुओं के संयोग से बना हुआ है। इसमें प्रतिक्षण अनन्त रजकण आते-जाते रहते हैं; इसलिए यह शरीर अस्थिर है। और इससे विपरीत चिदानन्द आत्मा सदैव स्थिर रहनेवाला है। शरीर तो संसार की मूर्ति है और आत्मा चैतन्य की मूर्ति है। चैतन्यस्वरूप आत्मा को छोड़कर शरीर का आश्रय करने पर तो भव की भावना की ही उत्पत्ति होती है। इसलिए **मैं शरीर का आश्रय छोड़कर सदा एकरूप रहनेवाले ज्ञानशरीरी आत्मा का ही आश्रय करता हूँ;** क्योंकि इसके आश्रय करने से ही संवर तथा मुक्ति होती है।

शरीर तो संसारमूर्ति है, रोगों का घर है, अशुचि है; ऐसी देह में भी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा सदा शुद्ध विराजमान है। उस आत्मा के आश्रय से ही धर्म प्रकट होता है। **यदि शरीर के आश्रय से धर्म होता हो, तब तो शरीर में रोग के समय धर्म नहीं होना चाहिए, परन्तु ऐसा तो है नहीं।**[१]

इसलिए मुनिराज कहते हैं कि इस अस्थिर क्षणभंगुर शरीर का आश्रय छोड़कर मैं तो एकरूप ज्ञायक शरीर का ही शरण ग्रहण करता हूँ। तथा अन्य जिन जीवों को भी आत्मा की शान्ति प्राप्त करनी हो, वे भी अपने ज्ञानशरीरी आत्मा का ही शरण ग्रहण करें।[२]

आचार्य कहते हैं कि **चैतन्यस्वभाव की भ्रान्ति ही महारोग है और चैतन्यस्वभाव की भावना करना ही इस महारोग का नाश करने की औषधि है।**[३]

चैतन्यस्वरूप को जानकर उसकी वीतरागी भावना करे तो भवभ्रमण के रोग का अभाव हो, इसके अलावा शुभाशुभ भाव इत्यादि कोई भी भवभ्रमण को मिटानेवाला नहीं है।[४]''

उक्त छन्दों में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में मात्र यही कहा गया है कि

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९३४ २. वही, पृष्ठ ९३४
३. वही, पृष्ठ ९३५ ४. वही, पृष्ठ ९३५

संसार की साक्षात् मूर्ति यह शरीर पौद्गलिक स्कन्धों से बना हुआ है, इसलिए अस्थिर है; इसे छोड़कर मैं ज्ञानशरीरी सदा शुद्ध भगवान आत्मा की शरण में जाता हूँ; क्योंकि मेरे इस अनादि संसार रोग की एकमात्र अचूक औषधि शुभाशुभभावों से रहित एक शुद्ध चैतन्य भावना ही है।

सातवाँ, आठवाँ और नौवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अथ विविधविकल्पं पंचसंसारमूलं
शुभमशुभसुकर्म प्रस्फुटं तद्विदित्वा।
भवमरणविमुक्तं पंचमुक्तिप्रदं यं
तमहमभिनमामि प्रत्यहं भावयामि ।।१६८।।

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम्।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।१६९।।

जयति सहजतेजःप्रास्तरागान्धकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः।
विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ।।१७०।।

(रोला)

अरे पंचपरिवर्तनवाले भव के कारण।
विविध विकल्पोंवाले शुभ अर अशुभ कर्म हैं।।
अरे जानकर ऐसा जनम-मरण से विरहित।
मुक्ति प्रदाता शुद्धातम को नमन करूँ मैं।।१६८।।
यद्यपि आदि-अन्त से विरहित आतमज्योति।
सत्य और सुमधुर वाणी का विषय नहीं है।।
फिर भी गुरुवचनों से आतमज्योति प्राप्त कर।
सम्यग्दृष्टि जीव मुक्तिवधु वल्लभ होते।।१६९।।

अरे रागतम सहजतेज से नाश किया है।
मुनिमनगोचर शुद्ध शुद्ध उनके मन बसता।
विषयी जीवों को दुर्लभ जो सुख समुद्र है।
शुद्ध ज्ञानमय शुद्धातम जयवंत वर्तता।।१७०।।

विविध विकल्पों वाला शुभाशुभ कर्म; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ह्न इन पाँच परिवर्तनोंवाले संसार का मूल कारण है ह्न ऐसा जानकर जन्म-मरण से रहित और पाँच प्रकार की मुक्ति देनेवाले शुद्धात्मा को मैं नमन करता हूँ और प्रतिदिन उसे भाता हूँ, उसकी भावना करता हूँ।

इसप्रकार आदि-अन्त से रहित यह आत्मज्योति; सुमधुर और सत्य वाणी का भी विषय नहीं है; तथापि गुरु के वचनों द्वारा उस आत्मज्योति को प्राप्त करके जो शुद्धदृष्टिवाला होता है, वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

जिसने सहज तेज से रागरूपी अंधकार का नाश किया है, जो शुद्ध-शुद्ध है, जो मुनिवरों को गोचर है, उनके मन में वास करता है, जो विषय-सुख में लीन जीवों को सर्वदा दुर्लभ है, जो परमसुख का समुद्र है, जो शुद्धज्ञान है तथा जिसने निद्रा का नाश किया है; वह शुद्धात्मा जयवंत है।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इन छंदों का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

"शुभाशुभ कर्म संसारपरिभ्रमण का मूल कारण है ह्न ऐसा कहा, इससे **ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जड़कर्म जीव को संसार में परिभ्रमण कराते हैं। परन्तु ऐसा समझना चाहिए कि आत्मा के जिस भाव से शुभाशुभ कर्म बंधते हैं, उस भाव को परिभ्रमण का मूल कारण कहा है।**

तथा **स्वयं अपने स्वभाव की दृष्टि करके स्वभाव में लीन होने पर विकार छूट जाता है और पंचप्रकार के परिभ्रमण से मुक्ति मिल जाती है।**

इसप्रकार जानना अर्थात् अनुभव करना धर्म के आरंभ की रीति है; क्योंकि इसप्रकार शुद्धात्मा का स्वरूप जाने बिना किसकी भावना करेगा और किसमें स्थिर होवेगा?

इसलिए **सर्वप्रथम विकार तथा स्वभाव दोनों को बराबर यथार्थ**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९३६ २. वही, पृष्ठ ९३७

जानना पश्चात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मस्वरूप में नमना, परिणमना, उसकी भावना करना ह्न यही मुक्ति का मार्ग है।[१]

पहले तो यह बताया कि भगवान आत्मा सत्यवाणी का भी विषय नहीं है। ह्न ऐसा बताने के बाद निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा कि श्रीगुरु के वचन प्रसाद से शुद्धात्मा को पाकर पात्र जीव शुद्धदृष्टिवाला होता हुआ, मुक्तिरूपी परमश्री को प्राप्त करता है। ह्न ऐसा कहकर शुद्धदृष्टि के ऊपर वजन दिया है और उस समय निमित्त कौन होता है ह्न इसका ज्ञान कराया है।[२]

आलोचना किसप्रकार होती है ह्न इसकी यह बात है। **आत्मा के स्वभाव-सन्मुख होकर शुद्धात्मा का अवलोकन करना संवर है, आलोचना है।** शुद्धात्मा ने अपने सहज चैतन्यप्रकाश से रागरूपी अंधकार का नाश किया है। ध्रुव चैतन्यस्वभाव में राग-द्वेष आदि विकार है ही नहीं, विकार तो पर्याय में है; परन्तु जो पर्याय ध्रुवस्वरूप के सन्मुख होती है, उस पर्याय में से भी विकार का नाश हो जाता है।

त्रिकाली चैतन्य द्रव्य चैतन्यप्रकाशमय है, इसे स्वीकार नहीं करना ही घोर अंधकार है। ध्रुवस्वभाव को स्वीकार करते ही इस मोहान्धकार का नाश होता है।[१]''

उक्त तीनों छन्दों में शुद्धात्मा और उसकी आराधना करनेवालों के गीत गाये हैं। **प्रथम छन्द में कहा गया है कि** संसार के मूल कारण शुभाशुभभाव हैं। इसलिए मैं जन्म-मरण का अभाव करने के लिए शुद्धात्मा की आराधना करता हूँ, उसकी भावना भाता हूँ, उसका ध्यान करता हूँ। **दूसरे छन्द में कहा गया है कि** यद्यपि यह भगवान आत्मा वाणी की पकड़ में नहीं आता; तथापि गुरूपदेश से आत्मज्योति को प्राप्त करनेवाला मुक्तिरमा का वरण करता है। **इसीप्रकार तीसरे छन्द में रागान्धकार का नाशक, मुनिजनों के मन का वासी, परमसुख के सागर आत्मा के जयवंत होने की भावना भाई है॥१६८-१७०॥** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९३८-९३९

नियमसार गाथा ११२

विगत गाथाओं में परम-आलोचना के आलोचन, आलुंछन और अविकृतिकरण ह्न इन भेदों की चर्चा की गई है; अब इस गाथा में चौथा भेद भावशुद्धि की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं॥११२॥

(हरिगीत)

मदमानमायालोभ विरहित भाव को जिनमार्ग में।
भावशुद्धि कहा लोक-अलोकदर्शी देव ने॥११२॥

मद, मान, माया और लोभ रहित भाव भावशुद्धि है ह्न ऐसा भव्यों से लोकालोक को देखनेवालों ने कहा है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह भावशुद्धि नामक परम-आलोचना के स्वरूप द्वारा शुद्ध-निश्चय आलोचना अधिकार के उपसंहार का कथन है।

तीव्र चारित्रमोह के उदय के कारण पुरुषवेद नामक नोकषाय का विलास **मद** है। **यहाँ मद का अर्थ मदन अर्थात् कामविलास है।**

वैदर्भी रीति में किये गये चतुरवचनरचनावाले कवित्व के कारण, आदेय नामक नामकर्म का उदय होने पर समस्त जनों द्वारा पूज्यत्वपने से; माता-पिता संबंधी कुल-जाति की विशुद्धि से; ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा उपार्जित शतसहस्त्रकोटिभट[१] सुभट समान निरुपम बल से; दानादि शुभकर्म द्वारा उपार्जित सम्पत्ति की वृद्धि के विलास से; बुद्धि, बल, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण ह्न इन सात ऋद्धियों से अथवा सुन्दर कामनियों के लोचन को आनन्द प्राप्त करानेवाले शरीर

१. शत सहस्त्र माने एक लाख और कोटि माने करोड़ ह्न इसप्रकार एक लाख करोड़ योद्धाओं के बराबर बल धारण करनेवाले को शतसहस्त्रकोटिभट कहते हैं।

लावण्य रस के विस्तार से होनेवाला आत्म-अहंकार मान है।

गुप्त पाप से माया होती है। योग्य स्थान पर धन व्यय नहीं करना लोभ है। निश्चय से समस्त परिग्रह का परित्याग जिसका लक्षण है ह्न ऐसे **निरंजन निज परमात्मतत्त्व के परिग्रह से अन्य परमाणुमात्र द्रव्य का स्वीकार लोभ है।**

इन चारों भावों से रहित शुद्धभाव ही भावशुद्धि है ह्न ऐसा भव्यजीवों को; लोकालोकदर्शी परमवीतराग सुखरूपी अमृत के पीने से तृप्त अरहंत भगवानों ने कहा है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिलोकीनाथ अरहंत परमात्मा कहते हैं कि हे भव्य! तुम्हारा आत्मा स्वभाव से ही मद, मान, माया, लोभ इत्यादि समस्त विकाररहित ज्ञानमूर्ति है। ह्न ऐसे ज्ञानमूर्ति आत्मस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ह्न उसमें स्थिर होना ही भावशुद्धि है। **भावशुद्धि का अर्थ ह्न चैतन्य स्वभाव के आश्रय से मद, मान, माया, लोभ इत्यादि विकारीभावों का नाश करना है।**[१]

चैतन्यद्रव्य परद्रव्य से भिन्न स्वयं प्रतापवंत है। आत्मा में इच्छाओं का अंश भी नहीं है। ह्न ऐसे चैतन्यतत्त्व की दृष्टि और लीनता से प्रगट हुआ विकार रहित निर्विकारीभाव ही भावशुद्धि है।

लोकालोक को एक साथ जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा अरहंतदेव की दिव्यध्वनि में भव्यजीवों के हितार्थ यह भावशुद्धि की बात आई है। ऐसी भावशुद्धि अन्तरंग निज परमात्मतत्त्व के आश्रय से प्रगट होती है तथा यही संवर एवं आलोचना है।[२]''

इस गाथा और इसकी टीका में भावशुद्धि नामक परम-आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए मात्र यही कहा गया है कि मद, मान, माया और लोभ रहित परिणाम ही भावशुद्धि है। टीका में मद, मान, माया और लोभ का स्वरूप उक्त प्रकरण के संदर्भ में स्पष्ट किया गया है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९४१ २. वही, पृष्ठ ९४६

यहाँ काम-वासना को मद कहा गया है। मान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए छह बिन्दु रखे गये हैं। पूज्यत्व, कुल-जाति संबंधी विशुद्धि, सुभटपना, सम्पत्ति, ऋद्धियाँ और शारीरिक सुन्दरता के कारण होनेवाले अभिमान को मान कहा है।

इसीप्रकार व्यवहारनय से योग्यस्थान में धन व्यय के अभाव को और निश्चयनय से निज शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य परमाणुमात्र परद्रव्य के स्वीकार को लोभ कहा गया है।।११२।।

इस परम-आलोचना अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज नौ छन्द लिखते हैं, जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजालं
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात्।
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।१७१।।

(हरिगीत)

जिनवर कथित आलोचना के भेद सब पहिचान कर।
भव्य के श्रद्धेय ज्ञायकभाव को भी जानकर।।
जो भव्य छोड़े सर्वतः परभाव को पर जानकर।
हो वही वल्लभ परमश्री का परमपद को प्राप्त कर।।१७१।।

जो भव्यलोक जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में कहे गये आलोचना के समस्त भेदजाल को देखकर तथा निजस्वरूप को जानकर सर्व ओर से परभावों को छोड़ता हूँ; वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

इस छन्द में सम्यक् आलोचना का फल मुक्ति की प्राप्ति होना बताया गया है। कहा गया है कि जो भव्यजीव जैनमार्ग में बताये गये आलोचना का स्वरूप भलीभाँति जानता है और तदनुसार परभावों को छोड़ता है; वह मुक्ति प्राप्त करता है।।१७१।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तिमार्गफलदा यमिनामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ।।१७२ ।।

(रोला)

संयमधारी सन्तों को फल मुक्तिमार्ग का।
जो देती है और स्वयं के आत्मतत्त्व में।।
नियत आचरण के अनुरूप आचरणवाली।
वह आलोचना मेरे मन को कामधेनु हो।।१७२।।

जो आलोचना संयमी सन्तों को निरन्तर मोक्षमार्ग का फल देनेवाली है, शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत आचरण के अनुरूप है, निरन्तर शुद्ध-नयात्मक है; वह आलोचना मुझ संयमी को वस्तुतः कामधेनुरूप हो।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव यह भावना व्यक्त करते हैं कि **जो आलोचना आत्मतत्त्व के अनुरूप आचरणवाली है, मोक्षमार्ग का फल देनेवाली है; वह शुद्धनयात्मक आलोचना मुझ संयमी को कामधेनु जैसी फल देनेवाली हो।**

ध्यान रहे जिसप्रकार लोक में चिन्तामणिरत्न को चिन्ताओं को हरनेवाला, कल्पवृक्ष को इच्छानुसार फल देनेवाला माना जाता है; उसीप्रकार **कामधेनु गाय को सभी कामनायें पूरी करनेवाला माना गया है।।१७२।।**

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः ।
तत्सिद्ध्यर्थं शुद्धशीलं चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ।।१७३ ।।

(रोला)

तीन लोक के ज्ञायक निर्विकल्प तत्त्व को।
जो मुमुक्षुजन जान उसी की सिद्धि के लिए।।
शुद्ध शील आचरे रमे निज आतम में नित।
सिद्धि प्राप्त कर मुक्तिवधु के स्वामी होते।।१७३।।

मुमुक्षु जीव तीन लोक को जाननेवाले शुद्ध निर्विकल्पतत्त्व को भलीभाँति बारंबार जानकर, उसकी सिद्धि के लिए शुद्ध शील का आचरण करके सिद्धिरूपी स्त्री का स्वामी होता है, सिद्धि को प्राप्त करता है।

उक्त छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सिद्ध समान शुद्ध निजात्मा की भावना तथा अनुभव करनेवाला जीव वास्तविक मुमुक्षु है। पुण्य की भावना करनेवाले को वास्तविक मुमुक्षु नहीं कहते हैं। **अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति श्रावक, महाव्रती मुनिराज तीनों मुमुक्षु हैं।**[१]

यहाँ पर पर्याय को गौण करके त्रिकाली द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा ऐसा कहा है कि ज्ञानी मुमुक्षु जीव तीन लोक को जाननेवाले ऐसे निर्विकल्प शुद्धात्मतत्त्व को यथार्थपने जानता है और पश्चात् उसी में लीन होकर मुक्ति प्राप्त करता है। इसमें ज्ञान तथा चारित्र दोनों की बात कही है।

अपने शुद्धात्मा का ज्ञान और उसमें लीनता ह्न इसके अलावा दूसरा कोई सिद्धि का उपाय मुमुक्षुओं को है ही नहीं। सभी जीव इसी रीति से सिद्धि प्राप्त करते हैं।[२]''

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और उसी में लीनतारूप चारित्र ही मुक्ति का मार्ग है, मोक्ष प्राप्त करने का सच्चा उपाय है।।१७३।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९४९
२. वही, पृष्ठ ९५०-९५१

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

सानन्दं तत्त्वमञ्जञ्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिंजल्कमध्ये
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम्।
शुद्धज्ञानप्रदीपप्रहतयमिमनोगेहघोरान्धकारं
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लंघने यानपात्रम् ।।१७४।।

(रोला)

आत्मतत्त्व में मग्न मुनिजनों के मन में जो।
वह विशुद्ध निर्बाध ज्ञानदीपक निज आतम।।
मुनिमनतम का नाशक नौका भवसागर की।
साधुजनों से वंद्य तत्त्व को वंदन करता।।१७४।।

जो आत्मतत्त्व आत्मतत्त्व में मग्न मुनिराजों के हृदयकमल की केशर में आनन्द सहित विराजमान है, बाधा रहित है, विशुद्ध है, कामबाणों की गहन सेना को जला देने में दावाग्नि के समान है और जिसने शुद्ध ज्ञानरूप दीपक द्वारा मुनियों के मनरूपी घर के घोर अंधकार का नाश किया है; जो साधुओं द्वारा वंदनीय और जन्म-मरणरूपी भवसागर को पार करने में नाव के समान है; उस शुद्ध आत्मतत्त्व को मैं वंदन करता हूँ।

गुरुदेवश्री उक्त छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अनन्तकाल से इस अज्ञानी जीव ने अपने शुद्ध अन्तःतत्त्व का कभी अनुभव नहीं किया। आचार्यदेव कहते हैं कि अन्तःतत्त्व को जानकर उसकी रुचि किये बिना उसमें लीनता नहीं होती और लीनता बिना मुक्ति नहीं होती; इसलिए सर्वप्रथम अपने अन्तर में अपने निजस्वरूप परमात्मशक्ति का विश्वास करना चाहिए। **निजस्वरूप के विश्वास के जोर से भवसमुद्र तिरा जा सकता है। निजपरमात्मतत्त्व भवसमुद्र को तैरने के लिए नौका समान है ह्न ऐसे परमात्मतत्त्व की यहाँ वंदना की गई है।**[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९५२

जिसप्रकार कमल के मध्य भाग में केशर का तन्तु होता है, वह केशर का तन्तु ही कमल का सार है; उसीप्रकार मुनियों के हृदयरूपी कमल में भगवान चिदानन्द आत्मा आनन्द सहित विराजमान है। यहाँ मुनियों की उग्र परिणति बताने के लिए उनके हृदय को कमल के केशर की उपमा दी है।[१]

त्रिकाली तत्त्व तो सदैव बाधारहित शुद्ध है। कामदेव की सेना को भस्म करने के लिए दावानल समान है, अर्थात् शुद्धात्मतत्त्व में कामदेव की उत्पत्ति तो है ही नहीं, बल्कि उसके आश्रय से विषय-कषाय का नाश हो जाता है। उस सहजतत्त्व के शुद्ध ज्ञानरूप दीपक के प्रकाश ने मुनियों के मनोगृह में से घोर अंधकार का नाश किया है।[२]

समस्त आत्माओं में ऐसा सहजतत्त्व जयवंत है। प्रत्येक आत्मा स्वयं ऐसी महिमा वाला है। यह स्वभाव ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा केवलज्ञान और सिद्धदशा का आधार है। इसलिए इसकी ही रुचि करना चाहिए।

वस्तु त्रिकाल अपने स्वभाव की महिमा में लीन है, उसकी महिमा को जानकर उसका आश्रय करनेवाले को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप संवर प्रगट होता है, जो धर्म है।[३]''

इसप्रकार आत्मतत्त्व की महिमा के प्रतिपादक इस छन्द में **मुनिजनों के हृदयकमल में विराजमान उस आत्मतत्त्व को विशुद्ध और बाधारहित बताया गया है। कहा गया है कि वह आत्मतत्त्व कामबाणों की गहन सेना को जला देने में दावाग्नि के समान है। मुनियों के मन के अंधकार को नाश करनेवाला वह तत्त्व साधुजनों से भी वंदनीय है, अभिनन्दनीय है, संसार समुद्र से पार होने के लिए नाव के समान है।**

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मैं भी उस शुद्ध आत्मतत्त्व की वंदना करता हूँ।।१७४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९५२
२. वही, पृष्ठ ९५२-९५३
३. वही, पृष्ठ ९५५

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

अभिनवमिदं पापं याया: समग्रधियोऽपि ये
विदधति परं ब्रूम: किं ते तपस्विन एव हि।
हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिंडमनुत्तमं
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयोऽपि यान्ति सरागताम् ।।१७५ ।।

(रोला)

बुद्धिमान होने पर भी क्या कोई तपस्वी।
ऐसा कह सकता कि करो तुम नये पाप को॥
अरे खेद आश्चर्य शुद्ध आतम को जाने।
फिर भी ऐसा कहे समझ के बाहर है यह॥१७५॥

हम पूछते हैं कि क्या वे वास्तव में तपस्वी हैं; जो समग्ररूप से बुद्धिमान होने पर भी दूसरों से यह कहते हैं कि तुम इस नये पाप को करो। आश्चर्य है, खेद है कि वे हृदय में विलसित शुद्धज्ञानरूप और सर्वोत्तम पिण्डरूप इस पद को जानते हुए भी सरागता को प्राप्त होते हैं।

उक्त छन्द के संबंध में स्वामीजी ने कुछ भी नहीं कहा। उन्हें इसमें कुछ कहने जैसा नहीं लगा; क्योंकि क्या जगत में कोई तपस्वी ऐसा भी कह सकता है कि इस नये पाप को करो? पाप करने की प्रेरणा की बात तो प्रत्यक्षरूप से लौकिकजन भी नहीं करते; फिर साधुजन ऐसी बात कैसे कर सकते हैं ?

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव भी इस बात पर आश्चर्य ही व्यक्त कर रहे हैं, खेद प्रगट कर रहे हैं। **हो सकता है कि उनके समय में कुछ ऐसे लोग रहे हों; जो इसप्रकार की अनर्गल बातें करते हों।**

कभी-कभी और कहीं-कहीं ऐसा कहते लोग तो आज भी मिल जाते हैं कि **यदि तुम पाप के समान पुण्य को त्यागने योग्य कहोगे तो फिर हम या तो पुण्य कार्य करना भी छोड़ देंगे या फिर जिसप्रकार पुण्य का उपदेश करते हैं, उसीप्रकार पाप का उपदेश करने लगेंगे।**

उनसे कहते हैं कि **उपदेश तो सदा ही ऊपर चढने का ही दिया**

जाता है, नीचे गिरने का नहीं। अत: **पुण्य को छोड़ने के उपदेश से पाप करने का उपदेश देने का भाव ग्रहण करना तो ठीक नहीं है।** हो सकता है कि इसीप्रकार की कोई प्रवृत्ति उस समय रही हो, जिसके कारण टीकाकार मुनिराज को इसप्रकार का छन्द लिखने का भाव आया हो।

जो भी हो, पर शुद्धज्ञानघन सर्वोत्तम आत्मतत्त्व के जानकार तो इसप्रकार की सरागता को प्राप्त नहीं हो सकते।।१७५।।

छठवाँ और सातवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं
सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम्।
परमकलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजै:।
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम् ।।१७६ ।।
सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम्।
विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपंचपराङ्मुखं
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुम: ।।१७७ ।।

(रोला)

सब तत्त्वों में सहज तत्त्व निज आतम ही है।
सदा अनाकुल सतत् सुलभ निज आतम ही है॥
परमकला सम्पन्न प्रगट घर समता का जो।
निज महिमारत आत्मतत्त्व जयवंत सदा है॥१७६॥
सात तत्त्व में प्रमुख सहज सम्पूर्ण विमल है।
निरावरण शिव विशद नित्य अत्यन्त अमल है॥
उसे नमन जो अति दूर मुनि-मन-वचनों से।
परपंचों से विलग आत्म आनन्द मगन है॥१७७॥

तत्त्वों में वह सहज आत्मतत्त्व सदा जयवन्त है; जो सदा अनाकुल है, निरन्तर सुलभ है, प्रकाशमान है, सम्यग्दृष्टियों को समता का घर

है, परमकला सहित विकसित, निजगुणों से प्रफुल्लित है और जिसकी सहज अवस्था स्फुटित है, प्रगट है और जो निरन्तर निज महिमा में लीन है।

सात तत्त्वों में वह सहज परमतत्त्व निर्मल है, सम्पूर्णत: विमल ज्ञान का घर है, निरावरण है, शिव है, विशद-विशद है अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट है, नित्य है, बाह्य प्रपंचों से पराङ्मुख है और मुनिजनों को भी मन व वाणी से अति दूर है; उसे हम नमन करते हैं।

इन छन्दों के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जगत में सात तत्त्व हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ह्न इन सात तत्त्वों में जीवतत्त्व का स्वभाव त्रिकाल निर्मल है, सहज है तथा उत्कृष्ट है। सर्वथा पवित्र सम्यग्ज्ञान का निवासस्थान है अर्थात् ज्ञान सहजात्मस्वभाव में ही रहता है, आवरण रहित है। ह्न ऐसे **आत्मा के अवलम्बन बिना त्रिकाल में भी धर्म प्रगट होना सम्भव नहीं है।** आत्मा त्रिकाल शिव अर्थात् कल्याण की मूर्ति है, त्रिकाल प्रत्यक्ष है, स्पष्ट है, ध्रुवपने नित्य है।

यह सहजतत्त्व बाह्य प्रपंच से तो पराङ्मुख है ही, मुनियों को भी मनवाणी द्वारा प्राप्त नहीं होता। मुनियों के अन्तरंग अनुभव में निरन्तर वर्त रहा है, राग से पार है। ह्न ऐसे सहजतत्त्व को हमारा नमस्कार हो।[१]''

इसप्रकार इन दो छंदों में भगवान आत्मा को सतत जयवंत बताते हुए नमस्कार किया गया है। कहा गया है कि **अपना यह भगवान आत्मा सदा अनाकुल है, निरंतर सुलभ है, प्रकाशमान है, समता का घर है, परमकला सहित विकसित है, प्रगट है और निज महिमारत है। यह परमतत्त्व अत्यन्त निर्मल है, निरावरण है, शिव है, विशद है, नित्य है, बाह्य प्रपंचों से पराङ्मुख है और मुनिजनों की वाणी और मन से भी अति दूर है।** ऐसे जयवंत परमतत्त्व को हम नमन करते हैं।।१७६-१७७।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९५६

आठवाँ और नौवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(द्रुतविलंबित)

जयति शांतरसामृतवारिधि-
प्रतिदिनोदयचारुहिमद्युति: ।
अतुलबोधदिवाकरदीधिति-
प्रहतमोहतमस्समितिर्जिन: ।।१७८ ।।

विजितजन्मजरामृतिसंचय:
प्रहतदारुणरागकदम्बक: ।
अघमहातिमिरव्रजभानुमान्
जयति य: परमात्मपदस्थित: ।।१७९ ।।

(रोला)

अरे शान्तरसरूपी अमृत के सागर को।
नित्य उल्लसित करने को तुम पूर्णचन्द हो।।
मोहतिमिर के नाशक दिनकर भी तो तुम हो।
हे जिन निज में लीन सदा जयवंत जगत में।।१७८।।

वे जिनेन्द्र जयवन्त परमपद में स्थित जो।
जिनने जरा जनम-मरण को जीत लिया है।।
अरे पापतम के नाशक ने राग-द्वेष का।
निर्मूलन कर पूर्ण मूल से हनन किया है।।१७९।।

जो शान्तरसरूपी अमृत के सागर को उछालने के लिए प्रतिदिन उदित होनेवाले सुन्दर चन्द्रमा के समान हैं और जिन्होंने अतुलनीय ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से मोहान्धकार को नाश किया है; वे जिनेन्द्र भगवान जयवंत हैं।

जिसने जन्म-जरा-मृत्यु के समूह को जीत लिया है, दारुण राग के समूह का हनन कर दिया है, जो पापरूपी महान्धकार के समूह को नाश करने के लिए सूर्य के समान हैं और परमात्मपद में स्थित हैं; वे जिनेन्द्र जयवंत हैं।

उक्त छन्दों का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार पूर्णमासी का चन्द्रमा समुद्र को उछालता है अर्थात् जब सम्पूर्ण कलाओं सहित चन्द्रमा आसमान में प्रकाशमान होता है, तब समुद्र अपनी चंचल लहरों से उछलने लगता है।

उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा में भरे हुए शान्तरस समुद्र को उछालने के लिए अर्थात् पर्याय में प्रगट करने के लिए श्री मज्जिनेन्द्र-परमात्मा सम्पूर्ण कलाओं सहित उदित चन्द्रमा समान है। उन्होंने अपने केवलज्ञानरूपी सूर्य के तेज से मोहरूपी अंधकार का नाश किया है।

त्रिकाली द्रव्यस्वभाव तो जयवंत है ही, परन्तु उसके आश्रय से प्रगट होनेवाली सर्वज्ञता भी जयवंत वर्तती है। सर्वज्ञ भगवान की पर्याय में सदा शान्तरस उछल रहा है ह्न ऐसे सर्वज्ञदेव सदा जयवंत वर्ते।[१]

अहो ! केवलज्ञान जयवंत वर्त रहा है। ह्न ऐसा कहकर मुनिराज ने स्वयं स्वयं के लिए केवलज्ञान की भावना प्रगट की है।[२]''

उक्त दोनों छन्दों में से प्रथम छन्द में जिनेन्द्र भगवान की उपमा चन्द्रमा और सूर्य से दी है। कहा गया है कि हे भगवन् ! आप शान्त रसरूपी अमृत के सागर को उल्लसित करने के लिए चन्द्रमा के समान हो और मोहान्धकार के नाश के लिए ज्ञानरूपी सूर्य हो।

दूसरे छन्द में कहा गया है कि जन्म, जरा और मृत्यु को जीतनेवाले, भयंकर राग-द्वेष के नाशक, पापरूपी अंधकार के नाशक सूर्य और परमपद में स्थित जिनेन्द्रदेव जयवंत हैं।।१७८-१७९।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमालोचनाधिकार नामक सातवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९५७-९५८
२. वही, पृष्ठ ९५८-९५९

८

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार

(गाथा ११३ से गाथा १२१ तक)

नियमसार गाथा ११३

विगत सात अधिकारों में क्रमश: जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहारचारित्र, परमार्थप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और परम-आलोचना की चर्चा हुई। अब इस आठवें अधिकार में शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त की चर्चा करते हैं।

इस अधिकार की पहली और नियमसार की ११३वीं गाथा की उत्थानिका लिखते हुए तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखते हैं ह्न

''अब समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म के संन्यास के हेतुभूत शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त अधिकार कहा जाता है।''

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो।।११३।।

(हरिगीत)

जो शील संयम व्रत समिति अर करण निग्रहभाव हैं।
सतत् करने योग्य वे सब भाव ही प्रायश्चित्त हैं।।११३।।

व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा इन्द्रियनिग्रहरूप भाव प्रायश्चित्त है और वह प्रायश्चित्त निरंतर कर्तव्य है, करने योग्य कार्य है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चयप्रायश्चित्त के स्वरूप का कथन है।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, शील और सभी इन्द्रियों के तथा मन-वचन-काय के संयमरूप परिणाम एवं पंचेन्द्रिय के निरोधरूप परिणति विशेष प्रायश्चित्त है। प्राय: प्रचुररूप से निर्विकार चित्त ही प्रायश्चित्त है।

अन्तर्मुखाकार परमसमाधि से युक्त, परमजिनयोगीश्वर, पापरूपी अटवी (भयंकर जंगल) को जलाने के लिए अग्नि के समान, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रह के धारी, सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि समान और परमागमरूपी मकरंद (पुष्प रस) झरते हुए मुखवाले पद्मप्रभ को यह निरन्तर करने योग्य है, कर्त्तव्य है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में कथित व्रतादिक के परिणाम रागरहित जानना चाहिए, क्योंकि यह निश्चय प्रायश्चित्त का कथन है।

त्रिकाली शुद्धात्मस्वभाव के अवलम्बनपूर्वक रागादिभाव की उत्पत्ति ही न होना **निश्चय से अहिंसाव्रत** है। सत्स्वरूप ध्रुवस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न वीतरागभाव ही **परमार्थ से सत्यव्रत** है। अखण्ड आत्मस्वभाव से प्राप्त वीतरागी परणति के अलावा अन्य रागादिभाव का ग्रहण नहीं करना ही **निश्चय से अचौर्यव्रत** है। ब्रह्मस्वरूप आत्मा में चरना ही **वास्तविक ब्रह्मचर्यव्रत** है और उसी चिदानन्दस्वरूप में लीन होकर राग के एक अंश को भी ग्रहण नहीं करना **निश्चय से अपरिग्रहव्रत** है। ह्न

ऐसे वीतरागी पंचमहाव्रतरूप परिणाम स्वयं ही निश्चय से प्रायश्चित स्वरूप हैं।

इसीप्रकार ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण तथा प्रतिष्ठापना ह्न ये पाँचों समिति भी निश्चय से आत्मा के अवलम्बनस्वरूप वीतरागभाव ही हैं और इसका नाम ही **निश्चय प्रायश्चित्त** है।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९६१

स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न विशेष निर्विकारी परणति का नाम **प्रायश्चित्त** है।

अब कहते हैं कि ऐसा शुद्ध प्रायश्चित्त वीतरागी मुनिराजों को निरंतर कर्त्तव्यस्वरूप है।[१]

अहो! मुनिराजों की अन्तरपरिणति में प्रचुर वीतरागता प्रगट हुई है, इसलिए उनके मुख में से जो वाणी निकलती है, वह परमागम है। राग-द्वेष रहित **वीतरागी पुरुष की वाणी परमागम है।**[२]

यहाँ टीका में अपनी मुनिदशा का वर्णन करके मुनिदशा का वास्तविक स्वरूप बताया गया है।[३]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में पंच महाव्रत, पाँच समिति, शील और इन्द्रियों के तथा मन-वचन-काय के संयमरूप परिणामों तथा पंचेन्द्रियों के निरोधरूप परिणति को प्रायश्चित्त कहा है। उक्त संदर्भ में स्वामीजी का कहना है कि **यहाँ महाव्रतादि में शुभभावरूप महाव्रतादि को न लेकर वीतरागभावरूप महाव्रतादि को लेना चाहिए; क्योंकि निश्चयप्रायश्चित्त वीतरागभावरूप ही होता है।**

टीका के उत्तरार्द्ध में टीकाकार मुनिराज ने निश्चयप्रायश्चित्तधारी मुनिराज की जो प्रशंसा की है, वह परमवीतरागी मुनिराजों के सम्यक् स्वरूप का ही निरूपण है। उसके साथ स्वयं के नाम को जोड़ देने से ऐसा लगता है कि मुनिराज स्वयं की प्रशंसा कर रहे हैं; परन्तु **वे अपने बहाने परम वीतरागी भावलिंगी सच्चे मुनिराजों के स्वरूप का ही वर्णन कर रहे हैं। उनके उक्त कथन को आत्मश्लाघा के रूप में न देखकर आत्मविश्वास के रूप में ही देखा जाना चाहिए।**

'मेरे मुख से परमागम का मकरंद झरता है' ह्न यह कथन न केवल उनके अध्यात्मप्रेम को प्रदर्शित करता है; अपितु उनके अध्यात्म के प्रति समर्पण भाव को भी सिद्ध करता है।।११३।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९६१
२. वही, पृष्ठ ९६२
३. वही, पृष्ठ ९६२

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इस प्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिंता मुनीनां
मुक्तिं यान्ति स्वसुखरतयस्तेन निर्धूतपापा: ।
अन्या चिंता यदि च यमिनां ते विमूढा: स्मरार्त्ता:
पापा: पापं विदधति मुहु: किं पुनश्चित्रमेतत् ।।१८०।।

(हरिगीत)

मुनिजनों के चित्त में जो स्वात्मा का निरन्तर।
हो रहा है चिन्तवन बस यही प्रायश्चित्त है ।।
वे सन्त पावें मुक्ति पर जो अन्य-चिन्तामूढ हों।
कामार्त्त वे मुनिराज बाँधें पाप क्या आश्चर्य है ?।।१८०।।

मुनिराजों के चित्त में निरन्तर होनेवाला स्वात्मा का चिन्तवन ही प्रायश्चित्त है। निजसुख में रतिवाले वे मुनिराज उक्त प्रायश्चित्त के द्वारा पापों को धोकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। **यदि मुनिराजों को अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य चिन्ता हो, अन्य पदार्थों का ही चिन्तवन हो; तो वे विमूढ, कामार्त्त एवं पापी मुनिराज पुन: पाप को उत्पन्न करते हैं ह्न इसमें क्या आश्चर्य है ?**

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''जितने आस्रवभाव हैं, वे सभी आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध हैं; इसलिए वे पाप हैं। जो निजस्वभाव सुख के आनंदानुभव में लीन हुए हैं, वे मुनिभगवन्त वीतरागी परणति रूप प्रायश्चित्त द्वारा पुण्य-पाप रहित मुक्तदशा प्राप्त करते हैं अर्थात् सादि अनन्तकाल तक अपने स्वरूपमहल में विराजमान रहते हैं।[१]

जो अपने स्वभाव की भावना छोड़कर अपने स्वभाव से विपरीत

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९६३

पुण्य-पाप की भावना भाते हैं, वे मूढ़ हैं, विषयों में कामार्त हैं, पापी हैं; वे पुनः पुनः पाप को उत्पन्न करते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है?[१]

यह बात आज की नहीं है, इसे हम नहीं कह रहे हैं; यह तो अनादि काल से चली आ रही बात है और इसे अनन्तकाल से अनन्तानन्त तीर्थंकर भगवन्त कहते आ रहे हैं और पात्र जीव झेलते आ रहे हैं।

यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि भले द्रव्यलिंगी मुनि हुआ हो, परन्तु उसके भी यदि स्वभाव की भावना चूककर राग की भावना की मुख्यता है, तो वह मूढ़ है, पापी है ह्न इसमें आश्चर्य नहीं है।[२]''

इस छन्द में अत्यन्त सरल भाषा में यह बात ही कही गई है कि **सन्तों के चित्त में निरन्तर होनेवाला आत्मचिंतन ही प्रायश्चित्त है और वे मुनिराज उक्त प्रायश्चित्त के बल पर पुण्य-पापरूप विकारी भावों को धोकर मुक्ति प्राप्त करते हैं।**

इससे विपरीत बात यह है कि मुनिपद धारण करके भी यदि कोई मुनिराज आत्मचिन्तन छोड़कर अन्य चिन्ताओं में ही उलझे रहे तो वे तत्त्व के संबंध में मूढ ही हैं, लौकिक वाच्छाओं से दुखी हैं, इसप्रकार एक तरह से पुण्य-पापरूप विकारों में लिप्त होने से पाप का ही बंध करते हैं; अत: संसार में ही भटकेंगे, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति होना संभव नहीं है। यदि ऐसा होता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यहाँ चित्त में एक बात आती है कि भले ही कुछ भी क्यों न हो, पर मुनिराजों के लिए विमूढ, कामार्त्त और पापी कहना कुछ ठीक नहीं लगता; पर क्या करें, मूल छन्द में ही उक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। अत: अनुवाद करनेवाले इसमें क्या कर सकते हैं ?

हमारा कहना तो यही है कि मूल बात तो यही है कि जो लोग आत्मचिन्तन छोड़कर पर की चिन्ता में मग्न रहते हैं, वे मुक्तिमार्ग से च्युत हैं; उन्हें मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।।१८०।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९६३
२. वही, पृष्ठ ९६४

नियमसार गाथा ११४

विगत गाथा में निश्चय प्रायश्चित्त की चर्चा करके अब इस गाथा में उसी बात को आगे बढाते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो।।११४।।

(हरिगीत)

प्रायश्चित्त क्रोधादि के क्षय आदि की सद्भावना।
अर निजगुणों का चिन्तवन यह नियतनय का है कथन।।११४।।

क्रोध आदि स्वकीय विकारी भावों के क्षयादिक की भावना में रहना और निजगुणों का चिन्तवन करते रहना ही निश्चय से प्रायश्चित्त कहा गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ सम्पूर्ण कर्मों को जड़ से उखाड़ देने में समर्थ निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप कहा गया है।

क्रोधादिक समस्त मोह-राग-द्वेषरूप विभावभावों के क्षय के कारणभूत निजकारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना होने पर सहज-परिणति के होने के कारण प्रायश्चित्त कहा गया है अथवा परमात्मा के गुणात्मक शुद्ध अन्त:तत्त्वरूप स्वरूप के सहज ज्ञानादिक सहज गुण का चिन्तवन होना प्रायश्चित्त है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अहा ! इस गाथा में तो क्षायिकभाव की भावना जगाई है। स्वभाव के आश्रय से मोह के मूल को उखाड़ फैंकना ही क्षायिकभाव की भावना है।

यहाँ क्रोधादि भावों को स्वकीय कहा है, क्योंकि यदि क्रोधादिभाव कर्मजनित हों तो स्वयं को प्रायश्चित्त लेने का प्रसंग ही नहीं आता। जो भाव अपने द्वारा किये गये हों, अपनी भूल के कारण अपने में उत्पन्न हुए हों, उनका क्षय करना ही प्रायश्चित्त है। क्रोधादि समस्त विभाव भावों के क्षय की भावना में तत्पर रहना और निजगुण का चिंतवन करना ही निश्चय से प्रायश्चित्त है। दोषों का प्रायश्चित्त करने के साथ निजगुणों का चिन्तन करना कहा है, इसलिए सर्वप्रथम तो क्षणिक दोष और त्रिकाली गुणों का यथार्थ स्वरूप जानना है। बाद में स्वभाव के अवलम्बन से रागादिभावों का क्षय करना निश्चय से प्रायश्चित्त है।[१]

निज कारणपरमात्मा का अवलम्बन लेते ही सहज वीतरागी परणति में राग-द्वेषादि विभाव भावों की उत्पत्ति ही नहीं होती, इसलिए उसका नाम निश्चय प्रायश्चित्त है।[२]

श्रद्धा-ज्ञान में स्वभाव की पहिचान करना मिथ्यात्व के दोष का प्रायश्चित्त है और स्वभाव में लीनता होने पर वीतरागी मुनिदशा प्रगट होना अस्थिरता के दोष का प्रायश्चित्त है। ह्न ऐसा निश्चय प्रायश्चित्त मुक्ति का कारण है।

अन्तर में स्वतत्त्व की पहिचान करनेरूप विद्या ही सच्ची विद्या है और यही मोक्ष का कारण है। जो विद्यमान तत्त्व को जाने, उसका नाम विद्या है। विद्यमान ऐसा जो अपना त्रिकाल स्वभाव, त्रिकाल गुण और इनके आश्रय से उत्पन्न वीतरागी पर्याय। त्रिकाली के आश्रय से उत्पन्न पर्याय का कभी अभाव नहीं होता और इसका नाम ही सच्ची विद्या है। यही मोक्ष की कारण है और इसी का नाम प्रायश्चित्त है।[३]''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि **निज गुणों का चिन्तवन और क्रोधादि विकारी भावों के क्षय, क्षयोपशम और उपशम**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९६५-९६६
२. वही, पृष्ठ ९६६
३. वही, पृष्ठ ९६८-९६९

करने की भावना रखना अथवा क्रोधादि भावों के क्षय, क्षयोपशम उपशमरूप से परिणमित होना ही निश्चय प्रायश्चित्त है।।११४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां
कामक्रोधाद्यान्यभावक्षये च।
किं च स्वस्य ज्ञानसंभावना वा
सन्तो जानन्त्येदात्मप्रवादे।।१८१।।

(रोला)

कामक्रोध आदिक जितने भी अन्य भाव हैं।
उनके क्षय की अथवा अपने ज्ञानभाव की।।
प्रबल भावना ही है प्रायश्चित्त कहा है।
ज्ञानप्रवाद पूर्व के ज्ञायक संतगणों ने।।१८१।।

सन्तों ने आत्मप्रवाद नामक पूर्व के आधार से ऐसा जाना है और कहा भी है कि मुनिराजों को कामक्रोधादि अन्य भावों के क्षय की अथवा अपने ज्ञान की उग्र संभावना, सम्यक्भावना ही प्रायश्चित्त है।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पुण्य-पाप की भावना छोड़कर सहज स्वभाव की भावना करने से विभावों का क्षय हो जाता है। ह्न ऐसी भावना को भगवान ने उग्र प्रायश्चित्त कहा है ह्न यह तप, चरित्र तथा धर्म है ह्न ऐसा सन्तों ने जाना है और कहा है।[१]''

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि आत्मप्रवाद नामक पूर्व में समागत प्रायश्चित्त की चर्चा में यह कहा गया है कि काम, क्रोध आदि विकारीभावों के क्षय, क्षयोपशम और उपशम करने की उग्र भावना के साथ-साथ **ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा का सम्यक् ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान ही निश्चय प्रायश्चित्त है।।१८१।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९६९

नियमसार गाथा ११५

विगत गाथा में कहा गया है कि कामक्रोधादि भावों के क्षय करने संबंधी ज्ञान भावना ही प्रायश्चित्त है और अब इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि वे क्रोधादि कैसे जीते जाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए।।११५।।

(हरिगीत)

वे कषायों को जीतते उत्तमक्षमा से क्रोध को।
मान माया लोभ जीते मृदु सरल संतोष से।।११५।।

क्रोध को क्षमा से, मान को स्वयं के मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से ह्न चार प्रकार की कषायों को योगीजन इसप्रकार जीतते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह चार कषायों को जीतने के उपाय के स्वरूप का व्याख्यान है।

जघन्य, मध्यम और उत्तम के भेद से क्षमा तीन प्रकार की होती है।

अकारण अप्रिय बोलनेवाले मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अकारण ही मुझे तकलीफ पहुँचाने का जो प्रयास हुआ है; वह मेरे पुण्योदय से दूर हुआ है ह्न ऐसा सोचकर क्षमा करना प्रथम (जघन्य) क्षमा है।

अकारण त्रास देनेवाले को मुझे ताड़न करने या मेरा वध (हत्या) करने का जो भाव वर्तता है, वह मेरे सुकृत (पुण्य) से दूर हुआ है ह्न ऐसा सोचकर क्षमा करना द्वितीय (मध्यम) क्षमा है।

मेरा वध होने से अमूर्त परमब्रह्मरूप मुझे कुछ भी हानि नहीं होती ह्न ऐसा समझकर परमसमरसीभाव में स्थित रहना उत्तम क्षमा है।

इन तीन प्रकारों द्वारा क्रोध को जीतकर, मार्दवभाव द्वारा मान कषाय को, आर्जवभाव से माया कषाय को और परमतत्त्व की प्राप्तिरूप संतोष से लोभ कषाय को योगीजन जीतते हैं।''

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह सम्यग्ज्ञान सहित जीव की क्षमा की बात है। अन्दर में भान है कि मेरा स्वभाव तो शांत है, इसमें जो क्रोध की वृत्ति है, वह दुःखदायक है; वह मेरा स्वरूप नहीं है। ह्न ऐसे भानसहित जीव की क्षमा की यह बात है।[१]

बाहर में कोई निंदा करे, तो विचारे कि निंदावाचक शब्द तो जड़ हैं, उनसे मेरे आत्मा का नुकसान नहीं होता। मेरा अपराध हुए बिना ही मिथ्यादृष्टि जीव बिना कारण ही मुझे त्रास देने, दुखी करने का उद्यम करता है, सो वह तो मेरे पुण्य से दूर होगा ह्न ऐसा विचार कर क्रोध भाव को उत्पन्न ही न होने देना **जघन्यक्षमा** है।[२]

'मैं इसे मार के फैंक दूँगा' पापी जीव के ऐसा परिणाम होते हुए भी मेरे पुण्योदय होने से वह मुझे मार नहीं सका ह्न ऐसा विचार कर क्षमा धारण करना **मध्यमक्षमा** है।[३]

जड़ शरीर को सिंह, बाघ खाता हो, कोई तलवार से छेदता हो, चीरता हो, घानी में पेलता हो; तो धर्मात्मा ज्ञानी जीव ऐसा विचार करते हैं कि मैं तो अमूर्त चैतन्यब्रह्म हूँ, मेरा वध या घात होता ही नहीं है। मेरा विनाश तो इन्द्र के वज्र से भी नहीं होता ह्न ऐसा जानकर अपने अन्तर उपशम रस में स्थिर रहना **उत्तमक्षमा** है।[४]

ज्ञानानंदस्वभाव के आश्रय से क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतना प्रायश्चित्त है।[५]''

उक्त गाथा की टीका में टीकाकार मुनिराज क्षमा को तीन रूपों में

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९७१
२. वही, पृष्ठ ९७१
३. वही, पृष्ठ ९७२
४. वही, पृष्ठ ९७२
५. वही, पृष्ठ ९७४

प्रस्तुत करते हैं ह्न जघन्य, मध्यम और उत्तम। यद्यपि उक्त तीनों प्रकार की क्षमा सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों में ही पाई जाती है; तथापि उनमें जो अन्तर स्पष्ट किया गया है; उस पर जब ध्यान देते हैं तो यह बात स्पष्ट होती है कि यह अन्तर मात्र इस बात का है कि किन परिस्थितियों में किस प्रकार के चिन्तन से उक्त क्षमाभाव प्रगट हुआ है।

जब कोई अज्ञानी किसी ज्ञानी को अकारण त्रास देने लगता है तो ज्ञानी सोचता है कि यह त्रास तो मेरे पुण्योदय से दूर हुआ है या होगा। इसप्रकार के चिन्तन के आधार पर जो क्षमा भाव प्रगट होता है; वह **जघन्य उत्तमक्षमा** है।

इसीप्रकार जब वह त्रास अकारण ही ताड़न-मारन की सीमा तक पहुँच जाता है, तब भी जब ज्ञानी उसीप्रकार के चिन्तन से शान्त रहता है, क्षमाभाव धारण किये रहता है तो वह **क्षमा मध्यम क्षमा** है।

किन्तु जब उसीप्रकार की परिस्थितियों में वह यह सोचता है कि जान से मार देने पर भी परमब्रह्मस्वरूप अमूर्त आत्मा की अर्थात् मेरी कोई हानि नहीं होती। जो ज्ञानी इसप्रकार के चिन्तन के आधार पर समताभाव बनाये रखता है, समरसी भाव में स्थित रहता है; तब उस ज्ञानी के उत्तम क्षमा होती है॥११५॥

इसके बाद **तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः ह्न** तथा श्री गुणभद्र स्वामी भी कहते हैं ह्न ऐसा लिखकर चार छन्द प्रस्तुत करते हैं, जिनमें क्रोध से उत्पन्न होनेवाली हानि को प्रदर्शित करनेवाला पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

चित्तस्थमप्यनबुद्ध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनंगबुद्ध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न हार्यहानिः ॥६०॥[१]

१. आत्मानुशासन, छन्द २१६

(रोला)

अरे हृदय में कामभाव के होने पर भी।
क्रोधित होकर किसी पुरुष को काम समझकर॥
जला दिया हो महादेव ने फिर भी विह्वल।
क्रोधभाव से नहीं हुई है किसकी हानि?॥६०॥

कामवासना अपने चित्त में विद्यमान होने पर भी अपनी जड़बुद्धि के कारण उसे न पहिचान कर शंकर ने क्रुद्ध होकर बाह्य में किसी व्यक्ति को कामदेव समझ कर जला दिया और हृदय में स्थित कामवासना से विह्वल हो उठे। इसीलिए कहा है कि क्रोध के उदय से किसे कार्यहानि नहीं होती? तात्पर्य यह है कि क्रोधियों के काम तो बिगड़ते ही हैं।

उक्त छन्द में क्रोध कषाय से होनेवाली हानि की चर्चा करके क्रोध न करने की प्रेरणा दी गई है।

अपनी बात को बल प्रदान करने के लिए महादेव द्वारा कामदेव को जलाने संबंधी लोकप्रसिद्ध घटना का उदाहरण दिया गया है।

लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि कामदेव की कुचेष्टा से क्रोधित होकर शंकर महादेव ने अपने माथे पर तीसरा नेत्र खोलकर उससे निकली हुई भयंकर ज्वाला से कामदेव को भस्म कर दिया था। ऐसा होने पर भी उसके बाद महादेव को कामभाव से विह्वल होते देखा गया। अत: यहाँ यह कहा जा रहा है कि **जब स्वयं कामभाव से पीड़ित रहे तो फिर काम को जलाने से क्या लाभ हुआ? क्रोधित होने का क्या परिणाम हुआ?**

अरे भाई क्रोध से तो सभी की हानि ही होती है, लाभ नहीं॥६०॥

मान कषाय से होनेवाले दोषों का निरूपक दूसरा छन्द इसप्रकार है॥

(वसंततिलका)

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत्।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति॥६१॥[1]

१. आत्मानुशासन, छन्द २१७

(वीर)

अरे हस्तगत चक्ररत्न को बाहुबली ने त्याग दिया।
यदि न होता मान उन्हें तो मुक्तिरमा तत्क्षण वरते॥
किन्तु मान के कारण ही वे एक बरस तक खड़े रहे।
इससे होता सिद्ध तनिक सा मान अपरिमित दुख देता॥६१॥

अपने दाहिने हाथ में समागत चक्र को छोड़कर जब बाहुबली ने दीक्षा ली थी, यदि मान कषाय नहीं होती तो वे उसी समय मुक्ति प्राप्त कर लेते; किन्तु वे मान कषाय के कारण चिरकाल तक क्लेश को प्राप्त हुए। इससे सिद्ध होता है कि थोड़ा भी मान बहुत हानि करता है।

उक्त छन्द में बाहुबली मुनिराज के उदाहरण के माध्यम से यह सिद्ध किया गया है कि **थोड़ा-सा भी मान चिरकाल तक दु:ख भोगने को बाध्य कर देता है॥६१॥**

माया कषाय से होनेवाले दोषों का निरूपक तीसरा छंद इसप्रकार है॥

(अनुष्टुभ्)

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहय:॥६२॥[1]

(वीर)

अरे देखना सहज नहीं क्रोधादि भयंकर सांपों को।
क्योंकि वे सब छिपे हुए हैं मायारूपी गर्तों में॥
मिथ्यातम है घोर भयंकर डरते रहना ही समुचित।
यह सब माया की महिमा है बचके रहना ही समुचित॥६२॥

जिस मायारूपी गड्ढे में छिपे क्रोधादि भयंकर सांपों को देखना सहज नहीं है; मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकारवाले उस मायारूपी महान गड्ढे से डरते रहना योग्य है।

इस छन्द में माया कषाय को मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकारवाला गड्ढा (गर्त) बताया गया है और साथ में यह भी कहा गया है कि उस मायारूपी गड्ढे में क्रोधादि कषायरूपी भयंकर विषैले सांप छुपे रहते

१. आत्मानुशासन, छन्द २२१

हैं। वह माया क्रोधादिक कषायोंरूपी सांपों का घर है; अत: माया कषाय से सावधान रहना अत्यन्त आवश्यक है ।।६३ ।।

लोभ कषाय के दोषों का निरूपक चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधि:
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थित: ।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजित:
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तय: ।।६३।।[1]

(वीर)

वनचर भय से भाग रही पर उलझी पूँछ लताओं में।
दैवयोग से चमर गाय वह मुग्ध पूँछ के बालों में।।
खड़ी रही वह वहीं मार डाला वनचर ने उसे वहीं।
इसप्रकार की विकट विपत्ति मिलती सभी लोभियों को।।६३।।

वन में रहनेवाले शिकारी भील आदि मनुष्य और शेर आदि मांसाहारी पशुओं के भय से भागती हुई गाय की पूंछ दुर्भाग्य से कांटोंवाली लता में उलझ जाने पर जड़ता के कारण बालों के गुच्छे के प्रति लोभ के वश वह गाय वहीं खड़ी रह गई और अरे रे उस गाय को वनचर द्वारा मार डाला गया। तात्पर्य यह है कि **बालों के गुच्छे के लोभ में गाय ने प्राण गंवा दिये। जो लोग लोभ, लालच और तृष्णा के वश हैं, उनकी ऐसी ही दुर्दशा होती है, उन पर ऐसी ही विपत्तियाँ आती रहती हैं।**

वन में रहनेवाली नील गायों में कुछ गायों की पूँछ चँवरों जैसी होती है, उनकी पूँछ में सुन्दरतम बालों के गुच्छे होते हैं। बालों के उन गुच्छों से चँवर बनाये जाते हैं। इसीकारण उन गायों को चमरी गाय कहा जाता है।

मांसाहारी जंगली जानवर और भील आदि शिकारी उनके पीछे पड़े रहते हैं। वे बेचारी उनके भय से आकुल-व्याकुल होकर यहाँ-वहाँ भागती रहती हैं। ऐसी ही एक गाय, जिसके पीछे वनचर शिकारी लगे

१. आत्मानुशासन, छन्द २२३

हुए थे; जान बचाकर भाग रही थी। उसकी पूँछ के बाल किसी झाड़ी में उलझ गये।

यदि वह चाहती तो उन बालों की परवाह किये बिना भाग सकती थी; किन्तु अपने सुन्दरतम बालों के मोह में वह वहीं खड़ी रही और शिकारियों की शिकार हो गई।

वनवासी सन्तों को ऐसी घटनायें देखने को प्राय: प्रतिदिन मिलती रहती हैं। अत: आचार्यदेव ने उक्त घटना के माध्यम से लोभ कषाय की दुखमयता को स्पष्ट किया है। उनका कहना यह है कि यह बात किसी एक गाय की नहीं है। **सभी लोभियों की प्राय: ऐसी ही दुर्दशा होती है। अत: लोभ कषाय जितनी जल्दी छोड़ दी जावे, उतना ही अच्छा है।**

इसप्रकार यहाँ टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने **आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन में समागत चार कषायों की निरर्थकता बतानेवाले छन्दों में से चार कषाय संबंधी चार छन्द प्रस्तुत कर दिये हैं; जो अत्यन्त उपयोगी और प्रसंगानुरूप हैं।।६३।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथाहि** लिखकर एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

क्षमया क्रोधकषायं मानकषायं च मार्दवेनैव।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु ।।१८२ ।।

(सोरठा)

क्षमाभाव से क्रोध, मान मार्दव भाव से।
जीतो माया-लोभ आर्जव एवं शौच से।।१८२।।

क्रोध कषाय को क्षमा से, मान कषाय को मार्दव से, माया कषाय को आर्जव से और लोभ कषाय को शौच से जीतो।

इस छन्द में चारों कषायों के जीतने की बात कही है। कहा है कि **क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को शौचधर्म से जीतना चाहिए।।१८२।।** ●

नियमसार गाथा ११६

विगत गाथा में चारों कषायों को जीतने का उपाय बताकर अब इस गाथा में कहते हैं कि शुद्धज्ञान को स्वीकार करनेवाले को प्रायश्चित्त होता है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ।।११६ ।।

(हरिगीत)

उत्कृष्ट निज अवबोध अथवा ज्ञान अथवा चित्त जो।
वह चित्त जो धारण करे वह संत ही प्रायश्चित्त है ।।११६।।

जो मुनिराज अनंतधर्मवाले उस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का उत्कृष्टबोध, ज्ञान अथवा चित्त को नित्य धारण करते हैं; उन मुनिराज को प्रायश्चित्त होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ शुद्धज्ञान को स्वीकार करनेवाले को प्रायश्चित्त है ह्न ऐसा कहा है।

जो विशेष धर्म उत्कृष्ट है, वस्तुत: वही परमबोध है ह्न ऐसा अर्थ है। बोध, ज्ञान और चित्त अलग-अलग पदार्थ नहीं हैं, एक ही हैं। ऐसा होने से ही उस परमधर्मी जीव को प्रायश्चित्त है अर्थात् उत्कृष्टरूप से चित्त है, ज्ञान है। जो परमसंयमी इसप्रकार के चित्त को धारण करता है, उसे वस्तुत: निश्चयप्रायश्चित्त होता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिकाली सहज ज्ञानस्वभाव ही धर्मीजनों के लिए निश्चय से प्रायश्चित्त है। वस्तु तो त्रिकाल प्रायश्चित्तरूप ही है और उसे स्वीकार करने पर पर्याय में प्रायश्चित्त होता है। यहाँ प्रायश्चित्त होने की बात

कहकर उसके कारणरूप त्रिकाली प्रायश्चित्तस्वरूप आत्मा को बताया है। आत्मा तीनों काल प्रायश्चित्त स्वरूप है। उसी में से पर्याय में प्रायश्चित्त प्रगट होता है। **यदि द्रव्य प्रायश्चित्त स्वरूप न हो, तो पर्याय में प्रायश्चित्त कहाँ से प्रगट होता है।**

इसप्रकार यहाँ द्रव्य-पर्याय की संधिपूर्वक कथन किया है। जैसे आत्मा में सर्वज्ञशक्ति त्रिकाल है, तो पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट होती है; उसीप्रकार वस्तु त्रिकाल वीतरागी प्रायश्चित्तस्वरूप है, तो उसमें से पर्याय में वीतरागी प्रायश्चित्त प्रगट होता है। बस, धर्मी को तो अन्तर्मुख होकर स्वभाव में ढलना है, प्रायश्चित्त सहज ही प्रगट होता है।[१]

निमित्त या विकल्प का आलम्बन वास्तविक प्रायश्चित्त नहीं है। त्रिकाल प्रायश्चित्तस्वरूप परमधर्मी को अपने आत्मा के अवलम्बन से ही निश्चयप्रायश्चित्त प्रगट होता है और वही मुक्ति का कारण है।

इसलिए जो नित्यस्वभाव को नित्य धारण करते हैं अर्थात् प्रतिसमय उसका अवलम्बन करते हैं, ऐसे परमसंयमी साधु को निश्चियप्रायश्चित्त होता है।[२]''

उक्त गाथा में यह कहा गया है कि उत्कृष्ट ज्ञान का नाम ही चित्त है; क्योंकि ज्ञान, बोध और चित्त एकार्थवाची ही हैं। प्राय: शब्द उत्कृष्टता का सूचक है; इसप्रकार उत्कृष्ट ज्ञान ही प्रायश्चित्त है। यही कारण है कि उत्कृष्टज्ञान को धारण करनेवाले परमसंयमी सन्तों के ही निश्चय-प्रायश्चित्त होता है ।।११६।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

य: शुद्धात्मज्ञानसंभावनात्मा
प्रायश्चित्तमत्र चास्त्येव तस्य।
निर्धूतांह:संहतिं तं मुनीन्द्रं
वन्दे नित्यं तद्गुणप्राप्तयेऽहम् ।।१८३ ।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९७७ २. वही, पृष्ठ ९७८

(हरिगीत)

शुद्धात्मा के ज्ञान की संभावना जिस संत में।
आत्मरत उस सन्त को तो नित्य प्रायश्चित्त है॥
धो दिये सब पाप अर निज में रमे जो संत नित।
मैं नमूँ उनको उन गुणों को प्राप्त करने के लिए॥१८३॥

इस लोक में जो मुनिराज शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावना रखते हैं; उन मुनिराज को प्रायश्चित्त है ही। जिन्होंने पापसमूह को धो डाला है, उन मुनिराज को उनमें उपलब्ध गुणों की प्राप्ति हेतु मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

स्वामीजी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिकाली शुद्धात्मज्ञान की सम्यक्भावना भानेवाले मुनियों को ही वास्तव में प्रायश्चित्त होता है। अहो! लाखों, करोड़ों कथन करके भी अंत में तो द्रव्यस्वभाव में अन्तर्मुख होने का ही उपदेश देते हैं।

प्रायश्चित्त तो निर्मलपर्याय है, परन्तु उसका आधार कौन है?

उसका आधार तो शुद्ध ज्ञानस्वभावी ध्रुव कारणरूप वस्तु ही है। उसे स्वीकार करने से और उसकी भावना से ही प्रायश्चित्त होता है। उस स्वभाव की भावना करने से पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए कहा है कि जिन्होंने स्वभाव की सम्यक्भावना से समस्त पापसमूह को नष्ट कर दिया है ह्न उन मुनीन्द्रों को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए मैं नित्य वंदन करता हूँ।

देखो, यह प्रायश्चित्त किसी दूसरे से लेना नहीं पड़ता; परन्तु अन्तर में स्थित द्रव्य की भावना द्वारा ही प्रगट होता है।[१]''

इस कलश में दो बातें कही गई हैं। प्रथम तो यह कि जो वीतरागी संत शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावना रखते हैं; उनके प्रायश्चित्त सदा ही है और दूसरी बात यह कि उन जैसे गुण मुझे भी प्राप्त हो जावें ह्न इस भावना से सम्पूर्ण पाप भावों से रहित भावलिंगी सन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ॥१८३॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९७८-९७९

नियमसार गाथा ११७

विगत गाथा में आत्मज्ञान एवं आत्मध्यान ही प्रायश्चित्त है ह्न यह कहने के उपरान्त अब इस गाथा में यह कहते हैं कि मुनियों का तपश्चरण ही प्रायश्चित्त है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ॥११७॥

(हरिगीत)

कर्मक्षय का हेतु जो है ऋषिगणों का तपचरण।
वह पूर्ण प्रायश्चित्त है इससे अधिक हम क्या कहें॥११७॥

अधिक कहने से क्या लाभ है ? इतना कहना ही पर्याप्त है कि अनेक कर्मों के क्षय का हेतु जो महर्षियों का तपश्चरण है, उस सभी को प्रायश्चित्त जानो।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ परमतपश्चरण में लीन परमजिनयोगीश्वरों को निश्चय-प्रायश्चित्त है। इसप्रकार निश्चयप्रायश्चित्त ही समस्त आचरणों में परम आचरण है ह्न ऐसा कहा है।

बहुत असत् प्रलापों से बस होओ, बस होओ। निश्चय-व्यवहार स्वरूप परमतपश्चरणात्मक, परमजिनयोगियों को अनादि संसार से बंधे हुए द्रव्य-भावकर्मों के सम्पूर्ण विनाश का कारण, एकमात्र शुद्ध-निश्चयप्रायश्चित्त है ह्न इसप्रकार हे शिष्य तू जान।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो स्वभाव की भावना भाकर परम तपश्चरण में लीन हुए हैं ह्न ऐसे वीतरागी मुनियों को निश्चयप्रायश्चित्त होता है। उनकी दशा ही प्रायश्चित्त स्वरूप है। द्रव्यस्वभाव में ढली हुई पर्याय में प्रतिक्षण

वीतरागता बढ़ती जाती है। इसलिए वही सभी आचरणों में उत्तम आचरण है और वही प्रायश्चित्त है। स्वभावसन्मुख होकर उसकी भावना में लीन होना ही सभी आचरणों में श्रेष्ठ आचरण है। इसके सिवाय राग या पंच महाव्रत की बाह्य क्रियायें वास्तव में परम आचरण नहीं हैं।[१]

मुनिराज को शुभ विकल्पों के समय भी स्वभाव में जितनी स्थिरता वर्तती है, उतना निश्चयप्रायश्चित्त होता है और वह कर्मक्षय कारण है। व्यवहार तप के काल में भी कर्मों का अभाव होकर जो वीतरागता हुई है, वही कर्मक्षय का कारण है और वही निश्चयप्रायश्चित्त है।

जितनी वीतरागता है, उतना निश्चयप्रायश्चित्त है। मुनिराज को प्रतिक्षण होनेवाली स्वभाव की भावना से कर्मों का क्षय हो जाता है।

पर्याय जब अंतर में ढलती है, तभी भावकर्म और द्रव्यकर्म का अनादिकालीन प्रवाह टूट जाता है, इसलिए उस पर्याय को ही प्रायश्चित्त जानना चाहिए।[२]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अधिक विस्तार में जाने से क्या लाभ है और एक ही बात बार-बार दुहराने से भी क्या उपलब्ध होनेवाला है? समझने की बात तो एकमात्र यही है कि मुनि-अवस्था में होनेवाली तीन कषाय के अभावरूप वीतरागपरिणति और शुद्धोपयोगरूप धर्म ही निश्चयप्रायश्चित्त है।।११७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पाँच छन्द लिखते हैं। उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणात्मकं
सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम्।
सहजबोधकलापरिगोचरं
सहजतत्त्वमघक्षयकारणम्।।१८४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९८०
२. वही, पृष्ठ ९८०

(दोहा)

अनशनादि तप चरणमय और ज्ञान से गम्य।
अघक्षयकारण तत्त्वनिज सहजशुद्धचैतन्य।।१८४।।

अनशनादि तपश्चरणात्मक सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जानने वालों को सहज ज्ञानकला के गोचर सहजतत्त्वरूप भगवान आत्मा पुण्य-पाप के क्षय का कारण है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जब वर्तमान निर्मलपर्याय त्रिकाली तत्त्व में ढलकर, उसे अनुभवगोचर करती है; तब पुण्य-पाप का क्षय हो जाता है ह्न यही प्रायश्चित्त है।

निर्दोष त्रिकाली आत्मस्वभाव के आश्रय से जो निर्विकल्प ज्ञान प्रगट होता है, वह प्रायश्चित्त है। अपने सहज शुद्धात्म तत्त्व को जानना ही सच्ची कला है। सम्यग्ज्ञान द्वारा जाना गया त्रिकाली सहजतत्त्व विकार के क्षय का कारण है।[१]''

ध्यान रहे यहाँ अघ शब्द का प्रयोग पुण्य और पाप ह्न दोनों के अर्थ में किया गया है; क्योंकि शुद्धात्मा के ध्यानरूप निश्चयप्रायश्चित्त पुण्य और पाप ह्न दोनों का नाश करनेवाला है।

जिसप्रकार **क** का अर्थ पृथ्वी, **ख** का अर्थ आकाश होता है; उसीप्रकार **घ** का अर्थ भगवान आत्मा होता है। **घ** अर्थात् भगवान आत्मा की विराधना का जो भी कारण बने, वह सभी अघ हैं। चूंकि पुण्य और पाप दोनों ही आत्मा के विराधक भाव हैं; अत: वे अघ हैं।

यद्यपि सामान्य लोक में अघ शब्द का अर्थ पाप किया जाता है; तथापि अध्यात्मलोक में अघ का अर्थ और पुण्य और पाप दोनों होता है।।१८४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९८२

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात्
स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्मशुक्लम् ।
कर्मव्रातध्वान्तसद्बोधतेजो–
लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि ।।१८५ ।।

(रोला)

अरे प्रायश्चित्त उत्तम पुरुषों को जो होता।
धर्मध्यानमय शुक्लध्यानमय चिन्तन है वह ।।
कर्मान्धकार का नाशक यह सद्बोध तेज है।
निर्विकार अपनी महिमा में लीन सदा है।।१८५।।

उत्तम पुरुषों को होनेवाला यह प्रायश्चित्त वस्तुत: स्वद्रव्य का धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप चिन्तन है, कर्मसमूह के अंधकार को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है और अपनी निर्विकार महिमा में लीनतारूप है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो स्वद्रव्य का धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप चिन्तन है, कर्मसमूह के अंधकार को नष्ट करने के लिए जो सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य है और अपनी निर्विकार महिमा में लीन है ह्न ऐसा यह प्रायश्चित्त वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता है।[१]

पर के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले पुण्य–पाप भाव दोष हैं तथा स्वद्रव्य के चिन्तन से प्रगट होनेवाली निर्मलपर्याय प्रायश्चित्त है।[२]

चैतन्य में ही चेतना की एकाग्रता होना स्वद्रव्य का चिन्तन है। इसमें राग नहीं है, इसलिए यह प्रायश्चित्तस्वरूप है तथा यही प्रायश्चित्त सम्यग्दर्शन सहित चारित्र है, जो कि उत्तम पुरुषों को होता है।[३]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९८२-९८३ २. वही, पृष्ठ ९८३ ३. वही, पृष्ठ ९८३

उक्त छन्द में स्वद्रव्य के चिन्तनात्मक धर्मध्यान और शुक्लध्यान को प्रायश्चित्त कहा है; जबकि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में चिन्तन के निरोध को ध्यान कहा है। यद्यपि धर्मध्यान के सभी भेद चिन्तनात्मक ही हैं, तथापि शुक्लध्यान तो मा चिंतह[१] ह्न चिन्तवन मत करो के रूप में प्रतिष्ठित है।

एक बात और भी है कि यहाँ प्रायश्चित्त को चिन्तनरूप कहकर भी निज महिमा में लीनतारूप भी कहा है। यह प्रायश्चित्त की महिमा वाचक छन्द है; अत: निश्चय–व्यवहार प्रायश्चित्त की संधि बिठाकर यथायोग्य समझ लेना चाहिए।।१८५।।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धि: क्रमेण
ज्ञानज्योतिर्निहतकरणग्रामघोरान्धकारा ।
कर्मारण्योद्भवदवशिखाजालकानामजस्रं
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती ।।१८६।।

(हरिगीत)

आत्म की उपलब्धि होती आतमा के ज्ञान से।
मुनिजनों के करणरूपी घोरतम को नाशकर।।
कर्मवन उद्भव भवानल नाश करने के लिए।
वह ज्ञानज्योति सतत् शमजलधार को है छोड़ती।।१८६।।

संयमी जनों को आत्मज्ञान से क्रमश: आत्मोपलब्धि होती है। उस आत्मोपलब्धि ने ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रियसमूह के घोर अंधकार का नाश किया है और वह आत्मोपलब्धि कर्मवन से उत्पन्न भवरूपी दावानल की शिखाओं के समूह का नाश करने के लिए उस पर निरंतर समतारूपी जल की धारा को तेजी से छोड़ती है, बरसाती है।

१. **मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।**
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ।।५६ ।।
बोलो नहीं सोचो नहीं अर चेष्टा भी मत करो।
उत्कृष्टतम यह ध्यान है निज आतमा में रत रहो ।।५६ ह्न द्रव्यसंग्रह, गाथा ५६

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो आत्मोपलब्धिरूप ज्ञानज्योति इन्द्रिय समूह के घोर अन्धकार का नाश करनेवाली है, कर्मवन से उत्पन्न दावानल के शिखाजाल का नाश करने के लिए समतारूपी जल की धारा बरसाती है। ह्न ऐसी आत्मोपलब्धि यमियों, संयमियों को क्रमशः आत्मज्ञान से होती है।[१]

जैसे जब बड़े-बड़े जंगलों में आग लग जाती है, तब उनकी आग साधारण पानी से नहीं बुझती, उसे बुझाने के लिए मूसलाधार वर्षा चाहिए; उसीप्रकार **इस संसार में आकुलतारूपी अग्नि जल रही है, उसे बुझाने के लिए आत्मा की शुद्ध परिणति रूपी शान्त जल की जोरदार वर्षा चाहिए।**

मुनिराज के अन्तर में ऐसी शान्त निराकुल उपशमरस झरती हुई परिणति प्रगट होती है, जिससे उनकी कषाय अग्नि बुझ जाती है। इसी आत्म-उपलब्धि का नाम प्रायश्चित्त है।[२]''

उक्त छन्द का सार यह है कि निश्चयप्रायश्चित्त आत्मोपलब्धिरूप है और आत्मोपलब्धि त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप है।

यह आत्मोपलब्धि अर्थात् निश्चयप्रायश्चित्त पंचेन्द्रिय भोगों संबंधी घोर अंधकार का नाशक है और कर्मरूपी भयंकर जंगल में लगे हुए संसाररूपी दावानल की शिखाओं को शान्त करनेवाला है तथा उक्त दावानल अर्थात् भयंकर आग को बुझाने के लिए मूसलाधार बरसात है; क्योंकि जंगल में लगी आग को मूसलाधार बरसात के अलावा कौन बुझा सकता है ?

तात्पर्य यह है कि निश्चयप्रायश्चित्तरूप **आत्मोपलब्धि ही विषय-कषाय की आग को बुझा सकती है,** अन्य कोई नहीं ।।१८६ ।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९८३-९८४
२. वही, पृष्ठ ९८४

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(उपजाति)

अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशे-
र्मयोद्धृता संयमरत्नमाला।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे
सालंकृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ।।१८७।।

(भुजंगप्रयात)

जिनशास्त्ररूपी अमृत उदधि से।
बाहर हुई संयम रत्नमाला।।
मुक्तिवधू वल्लभ तत्त्वज्ञानी।
के कण्ठ की वह शोभा बनी है।।१८७।।

अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृतसागर में से मेरे द्वारा जो संयमरूपी रत्नमाला निकाली गई है, वह रत्नमाला मुक्तिवधू के वल्लभ तत्त्व-ज्ञानियों के सुन्दर कण्ठ का आभूषण बनी है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अध्यात्मशास्त्र अमृतसमुद्र है। आचार्यदेव ने उसमें से यह संयमरूपी रत्नमाला बाहर निकाली है। संयम अर्थात् वीतरागता ही समस्त शास्त्रों का तात्पर्य है। वीतरागी संयम दशा में ही प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि सभी समा जाते हैं। परपदार्थ के लक्ष्य से रहित और स्वद्रव्य में एकाग्रतारूप वीतरागता ही सर्व शास्त्रों का सार है।[१]

यह रत्नमाला तत्त्वज्ञानियों के कंठ का आभूषण है। तत्त्वज्ञानी जीव मुक्तिवधू के वल्लभ हैं तथा उनका आभूषण वीतरागी संयम है।

उनकी भावना में भी वीतरागता का ही घोलन होता है और कंठ में से ध्वनि भी वीतरागता की ही उठती है।[२]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९८५
२. वही, पृष्ठ ९८५

इस छन्द में आचार्यदेव कह रहे हैं कि **अध्यात्मशास्त्रों के गंभीर अध्ययन से, उसमें प्रतिपादित भगवान आत्मा के स्वरूप को जानकर जो लोग उसमें ही अपनापन स्थापित करते हैं; वे तत्त्वज्ञानी जीव निश्चयरूप से परमसंयम को धारण कर मुक्ति को प्राप्त कर अनंतकाल तक अनंत अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करते हैं।।१८७।।**

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(उपेन्द्रवज्रा)

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं
मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम्।
विमुक्तिकांतारतसौख्यमूलं
विनष्टसंसारद्रुममूलमेतत्।।१८८।।

(भुजंगप्रयात)

भवरूप पादप जड़ का विनाशक।
मुनीराज के चित कमल में रहे नित।।
अर मुक्तिकांतारतिजन्य सुख का।
मूल जो आतम उसको नमन हो।।१८८।।

मुनिराजों के चित्तकमल के भीतर जिसका आवास है, जो मुक्तिरूपी कान्ता की रति के सुख का मूल है और जिसने संसाररूपी वृक्ष के मूल (जड़) का नाश किया है; ऐसे इस परमात्मतत्त्व को मैं नित्य नमन करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जैसे चंदन के वृक्ष में शीतलता के कारण सर्प उससे लिपटे रहते हैं; उसीप्रकार मुनिराज चैतन्यरूपी चंदनवृक्ष की शीतलता के कारण उससे लिपटे रहते हैं अर्थात् उसी में लीन रहते हैं। उनकी परिणति में एक परमात्मतत्त्व ही बस रहा है।

वह परमात्मतत्त्व सादि-अनन्त परमानन्दमय मुक्ति का मूल है।

मुक्ति परिणति इस परमात्मत्व में से ही प्रगट होती है। यह परमात्मतत्व संसारवृक्ष के मूल का नाश करनेवाला है। तथा इसका आश्रय करने से संसारवृक्ष का समूल नाश होकर मुक्ति की उत्पत्ति होती है।

इसप्रकार यहाँ संसार के मूल और मुक्ति के मूल ह्न इन दो मूलों की चर्चा की है।

संसार का मूल उखाड़ने वाले परमात्मतत्त्व को मैं नमन करता हूँ।

परमात्मतत्त्व स्वयं त्रिकाली ध्रुव है तथा मुक्ति के उत्पाद का मूल है और संसार का व्यय करनेवाला है।[१]

यहाँ सिद्ध भगवान को परमात्मतत्त्व नहीं कहा; क्योंकि सिद्धदशा तो पर्याय है। उस सिद्धदशा का मूल कारण भी यह परमात्मतत्त्व ही है। अतः ऐसे परमात्मतत्त्व को मैं नमन करता हूँ तथा उसी की परिणति को एकाग्र करता हूँ।[२]''

उक्त छन्द में; जिसका आवास मुनिराजों के चित्तकमल है; उस निजात्मारूप परमात्मतत्त्व को नमस्कार किया गया है; क्योंकि सभी मुनिराज निरन्तर उसका ही ध्यान करते हैं। उनके ध्यान का एकमात्र ध्येय वह भगवान आत्मा ही है।

वह परमात्मतत्त्व मुक्तिकान्ता की रति के सुख का मूल है। तात्पर्य यह है कि उसमें अपनापन स्थापित करने से, उसके ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक उसका ध्यान करने से मुक्ति में प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है।

उक्त परमात्मतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान से संसाररूपी वृक्ष की तो जड़ ही उखड़ जाती है; अत: एकमात्र वही श्रद्धेय है, परमज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय भी वही है।।१८८।। ●

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९८६
२. वही, पृष्ठ ९८६

नियमसार गाथा ११८

विगत गाथा में तपश्चरण को प्रायश्चित्त कहा था। उसी बात को इस गाथा में भी कह रहे हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णंताणंतभवेण समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा ।।११८।।

(हरिगीत)

अनंत भव में उपार्जित सब कर्मराशि शुभाशुभ।
भसम हो तपचरण से अतएव तप प्रायश्चित्त है।।११८।।

विगत अनन्तानन्त भवों में उपार्जित शुभाशुभ कर्मराशि तपश्चरण से नष्ट होती है; इसलिए तप ही प्रायश्चित्त है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ यह कहा गया है कि प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन होता है, वह तप है और वह तप ही प्रायश्चित्त है।

भावशुद्धि लक्षणवाले परमतपश्चरण से पंचपरावर्तनरूप पाँच प्रकार के संसार का संवर्धन करने में समर्थ अनादि संसार से ही उपार्जित द्रव्य-भावात्मक शुभाशुभ कर्मों का समूह विलय को प्राप्त होता है।

इसलिए स्वात्मानुष्ठाननिष्ठ (निज आत्मा के आचरण में लीन) परमतपश्चरण ही शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ह्न ऐसा कहा गया है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ नियमसार में प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण, आलोचना, तप, कायोत्सर्ग, सामायिक इत्यादि सभी क्रियायें शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से ही होती हैं। ह्न यह कहा गया है। ये प्रायश्चित्तादि क्रियायें व्यवहार क्रियाओं से अथवा शुभराग से होती हैं ह्न यह नहीं कहा।

चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता से जो वीतराग परिणति प्रगट होती है, वही समस्त धर्मक्रिया है और वही मुक्ति का कारण है।

यहाँ, प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर प्रतपन करना तप है ह्न ऐसा कहा है।[१]

शुभाशुभ भावकर्म तथा द्रव्यकर्म अनादि संसार से चले आ रहे हैं; इसकारण जीव को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव पंचपरावर्तनरूप परिभ्रमण होता है। आत्मा के शुद्धभावरूपी तप द्वारा उस परिभ्रमण का नाश किया जाता है। इसलिए आत्मा के स्वभाव में एकाग्रता करनेरूप जो तप है, वही निश्चय से प्रायश्चित्त है।[२]''

यहाँ मात्र यही कहा गया है कि तप से शुभाशुभ कर्मों का नाश होता है और शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है; इसलिए परमतप ही निश्चय-प्रायश्चित्त है।।११८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म कर्मक्षयार्थं
प्राहु: सन्तस्तप इति चिदानंदपीयूषपूर्णम्।
आसंसारादुपचितमहत्कर्मकान्तारवह्नि
ज्वालाजालं शमसुखमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्या: ।।१८९।।

(भुजंगप्रयात)

रे रे अनादि संसार से जो
समृद्ध कर्मों का वन भयंकर।
उसे भस्म करने में है सबल जो
अर मोक्षलक्ष्मी की भेंट है जो।।
शमसुखमयी चैतन्य अमृत
आनन्दधारा से जो लबालब।
ऐसा जो तप है उसे संतगण सब
प्रायश्चित कहते हैं निरन्तर।।१८९।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९८८ २. वही, पृष्ठ ९८९

जो तप अनादि संसार से समृद्ध कर्मों की महा अटवी को जला देने के लिए अग्नि की ज्वाला के समूह समान है, समतारूपी सुख से सम्पन्न है और मोक्षलक्ष्मी के लिए भेंटस्वरूप है; उस चिदानन्दरूपी अमृत से भरे हुए तप को संत कर्मक्षय करनेवाला प्रायश्चित्त कहते हैं; अन्य किसी कार्य को प्रायश्चित्त नहीं कहते।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आहार का त्याग करना या साधारण आहार करना ह्न इसका नाम तप नहीं है। स्वरूपस्थितिपूर्वक आहार का त्याग हो तो वहाँ भी स्वरूपस्थिरता ही तप है, आहार का त्याग तप नहीं है।

चिदानन्द स्वरूप आत्मा का भान करके उसमें स्थिरता करने में ही तप, प्रायश्चित्त आदि समस्त धर्म क्रियाएँ आ जाती हैं। इसके अलावा बाहर की किसी भी शुभाशुभ क्रियाओं में ह्न शुभाशुभ भाव में तप अथवा प्रायश्चित्त नहीं होता।

अनन्तकाल के परिभ्रमण के नाश करने में समर्थ ह्न ऐसा शुद्धात्मा में एकाग्रतारूप तप ही प्रायश्चित्त है। यह मुनिदशा की बात है, मुनि हुए बिना मुक्ति नहीं होती।

इसलिए गृहस्थों को मुनिदशा का स्वरूप जानकर सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक उसको प्राप्त करने की भावना भाना चाहिए। इसके बिना मुनिदशा नहीं होती और मुनिदशा हुए बिना मुक्ति नहीं होती।[१]''

इस छन्द में भी गाथा की बात दुहराते हुए यही कहा गया है कि चिदानन्दरूपी अमृत से भरा हुआ तप ही निश्चयप्रायश्चित्त है; क्योंकि वह कर्मों का नाशक है, समतासुख और मोक्षरूपी लक्ष्मी को देनेवाला है॥१८९॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९९०-९९१

नियमसार गाथा ११९

विगत गाथाओं में तप को प्रायश्चित्त स्थापित करने के उपरान्त अब इस गाथा में ध्यानरूप तप को ही प्रायश्चित्त कह रहे हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं॥११९॥

(हरिगीत)

निज आतमा के ध्यान से सब भाव के परिहार की।
इस जीव में सामर्थ्य है निजध्यान ही सर्वस्व है॥११९॥

निजात्मस्वरूप के अवलम्बन से यह आत्मा सभी अन्य भावों का परिहार कर सकता है; इसलिए ध्यान ही सर्वस्व (सबकुछ) है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ स्वात्मा के आश्रयरूप निश्चयधर्मध्यान ही सभी भावों का अभाव करने में समर्थ है ह्न ऐसा कहा है।

समस्त परद्रव्यों के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित, अखण्ड, नित्य, निरावरण, सहज, परमपारिणामिकभाव की भावना से; औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ह्न इन चार भावान्तरों का परिहार करने में समर्थ अति-आसन्न भव्यजीव को पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि कहा है। ऐसा होने से यह सहज सिद्ध है कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, प्रायश्चित्त, आलोचना आदि सब ध्यान ही हैं।''

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो, यहाँ उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव को भी परभाव कहा है। व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभभाव, वह उदयभाव है। **चारों भाव त्रिकाली परम पारिणामिकभाव से अन्य हैं। ह्न इस अपेक्षा उन्हें परभाव कहा है और उनका अवलम्बन छुड़ाने के लिए उनका परिहार करने के**

लिए कहा है। क्षायिकभाव के परिहार का अर्थ क्षायिकभाव का आश्रय छोड़कर एकरूप परमपारिणामिक स्वभाव का अवलम्बन लेना है।

शुद्ध पारिणामिकभाव त्रिकाली ध्रुव है, अंशी है; उसके आश्रय से निर्मल पर्यायें प्रगट होती। क्षायिकभाव जो स्वयं अंश है, पर्याय हैं, उसके आश्रय से निर्मलता प्रगट नहीं होती।[१]

इसप्रकार शुद्धात्मा के ध्यान से ही समस्त परभावों का परिहार हो जाता है। तथा ऐसा होने से पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, प्रायश्चित्त, प्रत्याख्यान, आलोचना इत्यादि सभी शुद्धात्मा के ध्यान में समाहित हो जाते हैं।[२]

आत्मस्वरूप के सन्मुख होना ही धर्म है। यह जीव जितना-जितना स्वरूपसन्मुख होता है, उतनी-उतनी वीतरागता बढ़ती जाती है। इसे ही सामायिक, प्रतिक्रमण या मोक्षमार्ग कुछ भी कहो, सब एक ही बात है।[३]

आत्मस्वरूप का ध्यान करना ही मोक्षमार्ग है, आत्मस्वरूप का ध्यान करने के लिए सर्वप्रथम आत्मा का स्वरूप जानना चाहिए। आत्मस्वरूप में एकाग्र होना ही मोक्षमार्ग है, सम्यग्दर्शन भी आत्मस्वरूप के ध्यान से ही होता है।[४]''

परमपारिणामिकभावरूप निज भगवान आत्मा के सम्यक् ज्ञान और उसमें ही अपनेपन के श्रद्धानपूर्वक होनेवाले धर्मध्यानरूप शुद्धभाव ही निश्चयप्रायश्चित्त हैं। इस गाथा की टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि **एकमात्र परमपारिणामिकभाव को छोड़कर शेष सभी भाव परभाव हैं। औदयिकभाव तो परभाव हैं ही, किन्तु धर्मरूप औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव भी परभाव हैं; क्योंकि उनके आश्रय से, उनमें अपनापन स्थापित करने से, उनका ध्यान करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती; अत:**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९९३-९९४
२. वही, पृष्ठ ९९५
३. वही, पृष्ठ ९९६-९९७
४. वही, पृष्ठ ९९७

उनके आश्रय से मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं होती। यद्यपि वे प्राप्त करने की अपेक्षा से तो उपादेय हैं, पर ध्यान के ध्येय नहीं हैं। इस सब कथन का सार यह है कि उक्त परमभावरूप निजकारणपरमात्मा के ध्यान में सभी धर्म समा जाते हैं; अत: उक्त ध्यान ही निश्चयप्रायश्चित्त है॥११९॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जो इसप्रकार है॒

(मंदाक्रांता)

य: शुद्धात्मन्यविचलमना: शुद्धमात्मानमेकं
नित्यज्योति:प्रतिहततम:पुंजमाद्यन्तशून्यम्।
ध्यात्वाजस्रं परमकलया सार्धमानन्दमूर्तिं
जीवन्मुक्तो भवति तरसा सोऽयमाचारराशि: ॥१९०॥

(रोला)

परमकला युत शुद्ध एक आनन्दमूर्ति है।
तमनाशक जो नित्यज्योति आद्यन्त शून्य है॥
उस आतम को जो भविजन अविचल मनवाला।
ध्यावे तो वह शीघ्र मोक्ष पदवी को पाता॥१९०॥

आदि-अंत रहित और परमकला सहित, नित्यज्योति द्वारा अंधकार के समूह का नाशक, एक, शुद्ध और आनन्दमूर्ति आत्मा को जो जीव शुद्ध आत्मा में अविचल मनवाला होकर निरंतर ध्याता है; वह चारित्रवान जीव शीघ्र जीवन्मुक्त होता है।

इस छन्द के भाव को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं॒

''आत्मध्यान में स्थिर होना ही असली चारित्र है॒ ऐसा असली चारित्र धारण करनेवाला जीव अल्पकाल में पूर्ण मुक्तदशा प्राप्त कर लेता है॒ ऐसा ही वस्तुस्वरूप है।[१]''

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा है कि जो भव्यजीव शुद्ध आत्मा में अटूट श्रद्धा रखनेवाला है; वह भव्यजीव जब आदि-अंतरहित, आनन्द मूर्ति एक आत्मा का ध्यान करता है तो निश्चितरूप से अति शीघ्र मुक्तिपद प्राप्त करता है॥१९०॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९९८

नियमसार गाथा १२०

विगत गाथा में यह कहा था कि ध्यान ही प्रायश्चित्त है और अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि आत्मा का ध्यान करनेवाले के नियम से नियम (चारित्र) होता है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा।।१२०।।

(हरिगीत)

शुभ-अशुभ रचना वचन वा रागादिभाव निवारि के।
जो करें आतम ध्यान नर उनके नियम से नियम है।।१२०।।

शुभाशुभवचनरचना और रागादिभावों का निवारण करके जो भव्यजीव आत्मा को ध्याता है, उसे नियम से नियम होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह शुद्धनिश्चयनय के स्वरूप का कथन है।

जो परमतत्त्वरूपी महातपोधन सदा संचित सूक्ष्म कर्मों को मूल से उखाड़ देने में समर्थ निश्चयप्रायश्चित्त में परायण रहता हुआ मन-वचन-काय को संयमित किया होने से संसाररूपी बेल के मूलकंदात्मक शुभाशुभस्वरूप समस्त प्रशस्त-अप्रशस्त वचन रचनाओं का निवारण करता है; केवल उस वचनरचना का ही तिरस्कार नहीं करता; किन्तु समस्त मोह-राग-द्वेषादि भावों का निवारण करता है और अनवरतरूप से अखण्ड, अद्वैत, झरते हुए सुन्दर आनन्दवाले, अनुपम, निरंजन निजकारणपरमात्मतत्त्व की सदा शुद्धोपयोग के बल से संभावना करता है, सम्यक् भावना करता है; उस महातपोधन को नियम से शुद्धनिश्चयनियम है ह्न ऐसा भगवान सूत्रकार का अभिप्राय है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो, यह नियमसार का नियम! चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करने पर जो रागादिभावों का अभाव होता है, वास्तव में उसे ही मोक्ष का नियम कहा है। इस शुद्धात्मा के आश्रय में ही मोक्षमार्ग का शुद्ध (यथार्थ) नियम प्रगट होता है।

अहो! आचार्यदेव को नियमसार में चिदानन्द आत्मा के अवलम्बन में ही समस्त क्रियायें समाहित दिखाई देती हैं। शुद्धज्ञायक वस्तु का आश्रय ही निश्चय से ह्न नियम से मोक्षमार्ग है। आत्मसन्मुखता के बिना कुछ भी करे उसे नियम संज्ञा प्राप्त नहीं होती।[१]

यहाँ मात्र वचनरचना को छोड़ने के लिए ही नहीं कहा है, बल्कि मोह-राग-द्वेष आदि समस्त परभावों को भी छोड़ने के लिए कहा है।[२]''

ग्रन्थ के आरम्भ में ही नियम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए **तीसरी गाथा में कहा गया था कि नियम से करने योग्य जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, वे ही नियम हैं।**

यहाँ इस गाथा में कहा जा रहा है कि शुभाशुभवचनरचना का और रागादिभावों का निवारण करके अपने भगवान आत्मा का ध्यान करना ही नियम है।

उक्त दोनों बातों में कोई विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि निज भगवान आत्मा की आराधना का नाम ही सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और आत्मा का ध्यान भी तो वीतरागभावरूप है, चारित्ररूप है, चारित्रगुण की पर्याय है, स्वात्मा में ज्ञान की स्थिरतारूप है।

यहाँ प्रायश्चित्ताधिकार होने से ध्यान को ही निश्चयप्रायश्चित्त बताया जा रहा है और नियम की चर्चा भी उक्त संदर्भ में ही है। अत: जिसप्रकार आत्मध्यान निश्चयप्रायश्चित्त है; उसीप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियम भी निश्चयप्रायश्चित्त है।।१२०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज चार छन्द लिखते हैं; जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०००
२. वही, पृष्ठ १०००

(हरिणी)

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम्।
परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगनासुखकारणम्।।१९१।।

(हरिगीत)

जो भव्य भावें सहज सम्यक् भाव से परमात्मा।
ज्ञानात्मक उस परम संयमवंत को आनन्दमय॥
शिवसुन्दरी के सुक्ख का कारण परमपरमातमा।
के लक्ष्य से सद्भावमय शुधनियम होता नियम से॥१९१॥

जो भव्यजीव शुभाशुभवचनरचना को छोड़कर सदा स्फुटरूप से सहज परमात्मा को सम्यक् प्रकार से भाता है; उस ज्ञानात्मक परमसंयमी को मुक्ति सुन्दरी के सुख का कारणरूप यह शुद्धनियम नियम से होता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुभाशुभ वचन रचना के विकल्प को छोड़कर जो भव्यजीव अन्तर में नित्य प्रगटपने सहजपरमात्मा की सम्यक्प्रकार से भावना भाता है, वह अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित हो जाता है। ऐसे परम मुनिराज को मुक्तिरूपी स्त्री के सुख की प्राप्ति का कारण शुद्ध नियम प्रगट होता है। जगत में जिस स्त्री का संयोग होता है, उसका तो वियोग हो जाता है; परन्तु आत्मा की शुद्ध परणतीरूपी स्त्री का सादि अनंतकाल में कभी भी विरह नहीं होता।[१]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि जो भव्यजीव वचन विकल्पों से विरक्त हो निज भगवान आत्मा की आराधना करता है; उस परमसंयमी संत को मुक्ति प्राप्त करानेवाला शुद्धनियम अर्थात् निश्चयप्रायश्चित्त या ध्यान नियम से होता है।।१९१॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००२

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अनवरतमखंडाद्वैतचिन्निर्विकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किंचित्।
अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि।।१९२।।

(हरिगीत)

जो अनवरत अद्वैत चेतन निर्विकारी है सदा।
उस आत्म को नय की तरंगें स्फुरित होती नहीं॥
विकल्पों से पार एक अभेद जो शुद्धातमा।
हो नमन, वंदन, स्तवन अर भावना हो भव्यतम॥१९२॥

जो अनवरतरूप से अर्थात् निरन्तर अखण्ड, अद्वैत चैतन्य के कारण निर्विकार है; उस भगवान आत्मा को नयों का विलास किंचित् मात्र भी स्फुरित नहीं होता; जिसमें समस्त भेदवाद अर्थात् नय संबंधी विकल्प दूर हुए हैं; उस परमपदार्थ को मैं नमन करता हूँ, मैं उसका स्तवन करता हूँ और मैं उसे भलीप्रकार से भाता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''द्रव्य वस्तु तो अखण्ड है, उसमें भेदवाद नहीं है तथा ऐसी अखण्ड वस्तु ही दृष्टि का विषय है। पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि जिस अखण्ड परमात्मतत्त्व में शुद्ध-अशुद्धनय के विकल्पों का अभाव है ह्न ऐसे निज परमात्मतत्त्व को मैं नमन करता हूँ।

ऐसे परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने की, अनुभव करने की भावना करने में ही नमस्कार, स्तवन, सामायिक, भक्ति, समाधि इत्यादि सभी आ जाते हैं।

जो अपने अन्दर विराजमान परमात्म स्वरूप में एकाग्र हुआ है, उसने ही परमात्मा का वास्तविक स्तवन किया है, उसने ही परमात्मा

को सच्चा नमस्कार किया है, उसने ही परमात्मा की भावना की है। अपने स्वरूप से अखण्ड परमात्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक उसमें ही एकाग्रता करना, वही नियम, स्तवन और वंदन है।[१]''

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि अखण्ड, अद्वैत और निर्विकारी चेतनतत्त्वरूप भगवान आत्मा में नयों का विलास रंचमात्र भी नहीं है; क्योंकि वह तो नय विकल्पों से पार है। ऐसे भगवान आत्मा को मैं नमन करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ और उसकी भावना भाता हूँ।

तात्पर्य यह है कि नमन करने योग्य, स्तवन करने योग्य एवं भावना भाने योग्य एकमात्र निज भगवान आत्मा ही है; क्योंकि उसके आश्रय से ही बंध का अभाव होता है; अन्य किसी को नमन करने से, उसकी वंदना करने से, उसकी भावना भाने से बंध का अभाव नहीं होता, अपितु बंध ही होता है।।१९२।।

तीसरा व चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत्।
एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ।।१९३।।

भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे।
तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्यार्हते मते ।।१९४।।

(हरिगीत)

यह ध्यान है यह ध्येय है और यह ध्याता अरे।
यह ध्यान का फल इसतरह के विकल्पों के जाल से।।
जो मुक्त है श्रद्धेय है अर ध्येय एवं ध्यान है।
उस परम आतमतत्त्व को मम नमन बारंबार है।।१९३।।

त्रिविध योगों में परायण योगियों को कदाचित्।
हो भेद की उलझन अरे बहु विकल्पों का जाल हो।।
उन योगियों की मुक्ति होगी या नहीं कैसे कहें।
कौन जाने क्या कहे ह्न यह समझ में आता नहीं।।१९४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००२-१००३

यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और यह ध्यान का फल है ह्न ऐसे विकल्पजालों से जो मुक्त है, उस परमात्मतत्त्व को मैं नमन करता हूँ।

जिस योगपरायण योगी को कदाचित् भेदवाद उत्पन्न होता है; उसकी आर्हतमत मुक्ति होगी या नहीं होगी ह्न यह कौन जानता है ?

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह मेरा परमात्मतत्त्व ही ध्येय है, मेरा आत्मा ही ध्याता है, मैं ही ध्यान करता हूँ तथा पूर्ण मुक्त दशा प्रगट होना ही ध्यान का फल है।'' ह्न ऐसा भेदरूपी विकल्पों का जाल भी जिस परमात्मतत्त्व में नहीं है ह्न ऐसे उस सहज परमात्मतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ।[१]

जो भेद से ह्न व्यवहार के आश्रय से मुक्ति मानता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत में नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्ज्ञानी तो भेद को मुक्ति का कारण जानता ही नहीं है। इसलिए यह कहा कि ''भेद के आश्रय से अरहन्त के मत में मुक्ति होती है या नहीं'' ह्न यह ''कौन जाने?[२]''

उक्त छन्दों में यह कहा गया है कि ध्यान, ध्याता और ध्येय और ध्यान का फल ह्न इन विकल्पों से आत्मध्यान नहीं होता, निश्चय-प्रायश्चित्त भी नहीं होता; क्योंकि निश्चयप्रायश्चित्त या निश्चयधर्मध्यान तो निर्विकल्पदशा का नाम है। इसलिए अब उक्त विकल्पजाल से मुक्त परमात्मतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ, उसे ही ध्यान का ध्येय जानता हूँ, मानता हूँ।

दूसरे छन्द में भेदविकल्पों में उलझे सन्तों को मुक्ति होगी या नहीं ह्न यह कहकर यह नहीं कहा कि हम नहीं जानते क्या होगा ? अपितु यही कहा है कि यह तो स्पष्ट ही है कि भेदवाद में उलझे लोगों को मुक्ति होनेवाली नहीं; क्योंकि मुक्ति का मार्ग तो निर्विकल्पदशारूप आत्मध्यान ही है।।१९३-१९४।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००३
२. वही, पृष्ठ १००४

नियमसार गाथा १२१

यद्यपि सम्पूर्ण अधिकार में निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है; तथापि इस अधिकार की इस अन्तिम गाथा में उपसंहार के रूप में एक बार फिर निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कायाई परदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण।।१२१।।

(हरिगीत)

जो जीव स्थिरभाव तज कर तनादि परद्रव्य में।
करे आतमध्यान कायोत्सर्ग होता है उसे।।१२१।।

शरीरादि परद्रव्य में स्थिरभाव को छोड़कर जो आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है; उसे कायोत्सर्ग होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चयकायोत्सर्ग के स्वरूप का कथन है।

सादि-सान्त, मूर्त, विजातीय विभावव्यंजनपर्यायात्मक अपना आकार ही काय (शरीर) है। आदि शब्द से क्षेत्र, घर, सोना, स्त्री आदि लेना चाहिए।

शरीर, स्त्री, पुत्र, खेत, मकान और सोना, चाँदी आदि सभी परद्रव्यों में स्थिरभाव छोड़कर; व्यावहारिक क्रियाकाण्ड संबंधी आडम्बर और विविध विकल्परूप कोलाहल से रहित होकर; सहज परमयोग के बल से; सहजतपश्चरणरूपी क्षीरसागर का चन्द्रमारूप जो जीव; नित्य रमणीय, निरंजन निजकारणपरमात्मा को नित्य ध्याता है; वह सहज-वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिरोमणिरूप जीव वस्तुत: निश्चय-कायोत्सर्ग है।''

इस गाथा और टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी

स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ शरीरादि परद्रव्यों में अपनापन छुड़ाकर निज आत्मा में निर्विकल्पपने अपनत्व स्थापित करने की प्रेरणा दी जा रही है। अथवा निश्चय कायोत्सर्ग का स्वरूप समझाया जा रहा है।

काया आदि परद्रव्य स्थिर नहीं है, नित्य नहीं हैं; अनित्य हैं, अस्थिर हैं। नित्य, स्थिर तो मेरा सहज स्वभाव है ह्न ऐसा समझकर जो अपने आत्मा को ही निर्विकल्पपने ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग होता है।[१]

देखिये, यहाँ काया के उत्सर्ग (त्याग) के साथ-साथ क्षेत्र-घर आदि समस्त परद्रव्य के त्याग की बात भी सम्मिलित कर ली है।

काया चैतन्य के स्वभाव से विपरीत जाति की है, जैसे ह्न आत्मा अनादि-अनंत है और शरीर सादि-सांत है, आत्मा अमूर्तिक है और शरीर मूर्तिक है, आत्मा चैतन्य है और शरीर जड़मय है, आत्मा सहजज्ञान स्वरूप है और शरीर विभाव व्यञ्जनपर्यायरूप जड़ आकारवाला है। आत्मा स्थिर है और शरीर अस्थिर है; ह्न इसप्रकार शरीर मेरे से अत्यन्त भिन्न है।[२]

देखो तो सही! व्यवहार क्रियाकाण्ड को आडम्बर कहा और उसके विविध विकल्पों को कोलाहल कहा ह्न ऐसा कहकर समस्त हेयवृत्तियों का तिरस्कार किया है। अर्थात् छोड़ने योग्य समस्त विभाववृत्तियों को दूर फेंक दिया है।[३]

अब कहते हैं कि जो जीव इन विकल्पों के कोलाहल से रहित होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है, वह जीव कैसा है?

सहज तपरूपी समुद्र को उछालने के लिए जो चन्द्रमा समान है, वह जीव सहज कारणपरमात्मा को विकल्पों के कोलाहल से रहित होकर नित्य ध्याता है तथा वह सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है। ह्न ऐसे जीव को ही वास्तव में निश्चय कायोत्सर्ग है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००५-१००६
२. वही, पृष्ठ १००६ ३. वही, पृष्ठ १००६-१००७

यह जीव जब सहज कारणपरमात्मा में एकाग्र हुआ, तब सहज परम वैराग्य हुआ तथा तभी तपरूपी समुद्र उछला और उसे यथार्थ कायोत्सर्ग हुआ।

वास्तव में तो शरीर का त्याग ज्ञानशरीरी आत्मा के अवलम्बन से ही होता है। खड़े रहने का अथवा बैठने का नाम उत्सर्ग नहीं है। सहज चैतन्य में लीनता का नाम ही उत्सर्ग है।[१]''

यद्यपि इस शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त अधिकार में आदि से अर्थात् गाथा ११३ से लेकर गाथा ११८ तक निश्चयप्रायश्चित्त की ही चर्चा चलती रही है; तथापि **अन्तिम तीन गाथाओं में क्रमशः ध्यान, शुद्धनिश्चयनियम और निश्चयकायोत्सर्ग की चर्चा हुई है।**

इससे प्रतीत होता है कि शुद्धनिश्चयनय से ध्यान, निश्चयनियम और निश्चयकायोत्सर्ग एक प्रकार से शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त के ही रूपान्तर हैं।

इस गाथा और उसकी टीका में निश्चयकायोत्सर्ग का स्वरूप समझाते हुए कहा गया है कि शरीर, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि एवं स्वर्णादि परपदार्थों में स्थिरभाव (कायादि स्थिर हैं ह्न इसप्रकार की मान्यता) छोड़कर, व्यवहारिक क्रियाकाण्ड एवं विकल्पों के कोलाहल से रहित होकर, परमयोग के बल से, जो जीव निजकारणपरमात्मा को ध्याता है; वह जीव ही निश्चयकायोत्सर्ग है॥१२१॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पाँच छन्द लिखते हैं; उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात्।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्तेः
स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम्॥१९५॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००७

(हरिगीत)

रे सभी कारज कायकृत मन के विकल्प अनल्प जो।
अर जल्पवाणी के सभी को छोड़ने के हेतु से॥
निज आत्मा के ध्यान से जो स्वात्मनिष्ठापरायण।
हे भव्यजन उन संयमी के सतत् कायोत्सर्ग है॥१९५॥

जो स्वात्मनिष्ठापरायण हैं; उन संयमियों को काया से उत्पन्न होनेवाले अति प्रबल कार्यों के त्याग के कारण, वाणी के जल्पसमूह की विरति के कारण और मानसिक विकल्पों की निवृत्ति के कारण तथा निज आत्मा का ध्यान के कारण निश्चय से सतत् कायोत्सर्ग है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो अपने आत्मा में लीन हो गये हैं ह्न ऐसे संतों को ह्न मुनिराजों को चौबीस घण्टे अर्थात् प्रतिक्षण कायोत्सर्ग होता है; क्योंकि जो जीव आत्मा में लीन हो गया है, उसके देह सम्बन्धी समस्त विकल्पों से सहज ही विरक्ति हो जाती है। अर्थात् उसके देह की क्रियाओं में अपनत्व टूट जाता है, वाणी के जल्पसमूह से विरक्ति हो जाती है तथा मन के विकल्पों से भी मुक्ति मिल जाती है। ह्न इसप्रकार मन-वचन-काय तीनों की ओर वलण न होकर एक आत्म-सम्मुख ही वलण होता है। इसलिए आत्मध्यान में लीन मुनिराज के निश्चय सतत् कायोत्सर्ग होता है।[१]

कायोत्सर्ग अर्थात् काया का त्याग। काया के त्याग से तात्पर्य है काया के प्रति अनुराग छोड़ना, एकाग्रता छोड़ना और चैतन्य के प्रति एकाग्रता करना। चैतन्यतत्त्व में एकाग्र होने पर कायादि के प्रति वलण नहीं रहता ह्न इसे ही कायोत्सर्ग कहते हैं।[२]''

उक्त छन्द में अत्यन्त सरल शब्दों में यह बात कही गई है कि अपने आत्मा में सलंग्न संयमीजनों के न तो कायासंबंधी अति प्रबल

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००८ २. वही, पृष्ठ १००८

कार्य होते हैं; न वचनसंबंधी अनर्गल प्रलाप होता है और न मन में विकल्पों का अंबार होता है। इसप्रकार मन-वचन-काय संबंधी विकृति के अभाव के कारण और आत्मा के सतत् ध्यान के कारण निश्चय-नयाश्रित वीतरागी सन्तों के निरंतर निश्चयकायोत्सर्ग होता है।।१९५।।

दूसरा व तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति सहजतेज:पुंजनिर्मग्नभास्वत्-
सहजपरमतत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम्।
सहजपरमदृष्ट्या निष्ठितन्मोघजातं।
भवभवपरितापै: कल्पनाभिश्च मुक्तम्।।१९६।।

भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं
स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेहम्।।१९७।।

(हरिगीत)

मोहतम से मुक्त आतमतेज से अभिषिक्त है।
दृष्टि से परिपूर्ण सुखमय सहज आतमतत्त्व है।।
संसार में परिताप की परिकल्पना से मुक्त है।
अरे ज्योतिर्मान निज परमातमा जयवंत है।।१९६।।
संसारसुख अति अल्प केवल कल्पना में रम्य है।
मैं छोड़ता हूँ उसे सम्यक् रीति आतमशक्ति से।।
मैं चेतता हूँ सर्वदा चैतन्य के सद्ज्ञान में।
स्फुरित हूँ मैं परमसुखमय आतमा के ध्यान में।।१९७।।

सहजतेजपुंज में निमग्न, मोहान्धकार से मुक्त, सहज प्रकाशमान परमतत्त्व सदा जयवंत है। वह परमतत्त्व सहज परमदृष्टि से परिपूर्ण है और वृथा उत्पन्न भव-भव के परिताप से कल्पनाओं से मुक्त है।

कल्पनामात्र रमणीय तुच्छ सांसारिक सुख को मैं आत्मशक्ति से

भलीप्रकार छोड़ता हूँ। तथा स्फुरायमान स्वयं के विलास से सहज परमसुखवंत चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मतत्त्व का मैं सर्वदा अनुभव करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन छन्दों का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि हे जीव! यदि तुझे कायोत्सर्ग करना हो तो यह जयवंत वर्तते हुए सहजतत्त्व में आ जा। आत्मा के सिवाय अन्य देहादि पदार्थ जयवंत नहीं वर्तते। सहज ज्ञानपुंज स्वरूप वस्तुस्वभाव में सहजतत्त्व निमग्न है अर्थात् सहजतत्त्व स्वयं अपने स्वभाव में ही निमग्न है।[१]

संसार में स्वर्ग के भव का, भोगभूमि के जुगलियों के भव का सुख तो कल्पनामात्र रम्य है और हीन है; उनमें कहीं भी वास्तविक सुख नहीं है। इसलिए ऐसे भव-भव के कल्पित सुख को मैं आत्मशक्ति से छोड़ता हूँ। **किसी पर की शक्ति से भव के भाव का अभाव नहीं होता; परन्तु स्वभाव की शक्ति से ही भव-भव के कल्पित सुख का त्याग होता है।**

मैं अन्तर्मुख आत्मशक्ति में एकाग्र होकर इन्द्रियों के प्रति होनेवाले अनुराग को छोड़ता हूँ। और अपने चैतन्य चमत्कार मात्र स्वभाव का ही अनुभव करता हूँ; क्योंकि मेरा आत्मा सहज-स्वाभाविक परमसुखमय है, चैतन्यचमत्कार मात्र है तथा भव-भव का सुख कल्पित है। आत्मा का निज विलास प्रगट हुआ है। अतः मैं ऐसे आत्मा का ही सर्वदा अनुभव करता हूँ। देखो, इसका नाम भव-भव का प्रायश्चित्त है।[२]''

उक्त छन्दों में आत्मा के शाश्वत स्वरूप का उद्घाटन करते हुए विषय-कषायों से विरक्त हो आत्माराधना करने का संकल्प व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि यह भगवान आत्मा सहजतेज का पुंज, मोहान्धकार से मुक्त, सहजप्रकाशनमात्र परिपूर्ण परमतत्त्व है। यह

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १००९ २. वही, पृष्ठ १०११

परमात्मतत्त्व मैं स्वयं ही हूँ। अत: अब मैं कल्पनामात्र रमणीक संसारसुखों को तिलांजलि देकर परमसुखमय आत्मा की आराधना में संलग्न होता हूँ।।१९६-१९७।।

चौथा व पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

निजात्मगुणसंपदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा।
जगत्त्रितयवैभवप्रलयहेतुदु:कर्मणां
प्रभुत्वगुणशक्तित: खलु हतोस्मि हा संसृतौ ।।१९८।।

(हरिगीत)

समाधि की है विषय जो मेरे हृदय में स्फुरित।
स्वातम गुणों की संपदा को एक क्षण जाना नहीं।।
त्रैलोक्य वैभव विनाशक दुष्कर्म की गुणशक्ति के।
निमित्त से रे हाय मैं संसार में मारा गया।।१९८।।

मेरे हृदय में स्फुरायमान, समाधि की विषयभूत अपने आत्मा के गुणों की संपदा को मैंने पहले एक क्षण को भी नहीं जाना। तीन लोक के वैभव को नाश करने में निमित्तरूप दुष्ट कर्मों की प्रभुत्वगुणशक्ति से मैं संसार में मारा गया हूँ, हैरान हो गया हूँ।

(आर्या)

भवसंभवविषभूरुहफलमखिलं दु:खकारणं बुद्ध्वा।
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुंजे ।।१९९।।

(दोहा)

सांसारिक विषवृक्षफल दुख के कारण जान।
आत्मा से उत्पन्न सुख भोगूँ मैं भगवान।।१९९।।

संसार में उत्पन्न होनेवाले विषवृक्ष के समस्त फल को दु:ख का कारण जानकर मैं चैतन्यात्मक आत्मा में उत्पन्न विशुद्ध सुख का अनुभव करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो, यह प्रायश्चित्त की विधि! मेरे आत्मा में प्रगट जो निजात्मगुण सम्पदा है, जो समाधि का विषय है, मैंने उसे पूर्व में कभी एक क्षण भी नहीं जाना है। चैतन्यस्वभाव की सम्पदा को अपने श्रद्धा-ज्ञान का विषय नहीं बनाया है। अरे रे! ऐसी चैतन्यप्रभुता को भूलकर मैं दुष्टकर्मों की प्रभुता से हैरान हो गया हूँ ह्न मारा गया हूँ।

मैंने अपनी चैतन्यप्रभुता को नहीं जाना, इसलिए दुष्कर्मों की प्रभुता प्रगट हुई। मुझे मेरी चैतन्य सम्पदा का महत्त्व भासित नहीं हुआ और विकार का महत्त्व लगा; इसलिए ही मैं संसार में रखड़ा गया; यदि चैतन्य की प्रभुत्ता का महत्त्व भासित हुआ होता तो विकार का, पुण्य-पाप का महत्त्व भासित नहीं होता।

चैतन्य सम्पदा को भूलकर कर्मोदयजन्य प्रभुता से जुड़ने पर ही, तीन लोक को युगपत जाननेवाला ह्न ऐसा आन्तरिक निजवैभव तथा इन्द्र भी जिसे नमस्कार करें ह्न ऐसा तीर्थंकर की विभूतिरूप बाह्य वैभव मुझसे छिन गया है। ह्न ऐसा जानकर अब चैतन्य शक्ति की प्रभुता का आश्रय करके प्रायश्चित्त किया है अर्थात् चैतन्यशक्ति को संभाल लिया है, अब संसार में परिभ्रमण नहीं होगा।

पहले अपनी प्रभुता को स्वयं भूला, तब बाद में जड़ ने प्रभुता प्रगट की। यहाँ यह नहीं बताया कि कर्म की प्रभुता के कारण मैं अपनी प्रभुता को भूला है।[१]

आत्मा की प्रभुता को भूलकर पर में आत्मबुद्धि से स्वयं पर का समागम किया, इसलिए संसार में रखड़ा गया। अरे रे! मैं मेरी प्रभुता को पूर्व में भूल गया था ह्न ऐसा कौन कहे? जिसे अपनी प्रभुता का वर्तमान में भान हुआ हो, वही कहता है कि चैतन्य की प्रभुता के आश्रय से प्रायश्चित करने के कारण अब मैं संसार में हैरान नहीं होऊँगा।[२]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०११-१०१२ २. वही, पृष्ठ १०१२

उक्त छन्दों में अधिकार का समापन करते हुए अपने आत्मा को नहीं जानने से आज तक हुई अपनी दुर्दशा का चित्रण किया गया है। साथ में इस स्थिति से उबरने के लिए आत्मा से उत्पन्न विशुद्ध सुख का अनुभव करने की बात भी कही गई है।

उक्त दो छन्दों में से पहले छन्द में इस बात पर खेद व्यक्त किया गया है कि जो मुझे अनन्त सुखसमाधि को प्राप्त कराने में समर्थ है, समाधिरूप ध्यान का ध्येय है; ऐसे भगवान आत्मा और उसकी संपदा को मैंने आजतक एक क्षण को भी नहीं जाना।

यही कारण है कि तीन लोक के वैभव का नाश करने में हेतुभूत दुष्ट कर्मों की प्रभुत्वगुणशक्ति से मैं संसार में मारा गया हूँ, मारा-मारा भटक रहा हूँ, अनंत दु:ख उठा रहा हूँ।

दूसरे और इस अधिकार के अन्तिम छन्द में संसार में उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रिय के विषय और कषायरूप विषवृक्ष के फलों को दु:खरूप और दु:ख का कारण जानकर सन्तों द्वारा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में उत्पन्न विशुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द के भोगने की, अनुभव करने की बात कही गई है।

इसप्रकर निश्चयप्रायश्चित्त का स्वरूप स्पष्ट करनेवाला यह शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार समाप्त होता है।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार नामक आठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** ●

भगवान ने यदि 'भव्य' कहा तो इससे महान अभिनंदन और क्या होगा? भगवान की वाणी में 'भव्य' आया तो मोक्ष प्राप्त करने की गारंटी हो गई। पर इस मूर्ख जगत ने यदि 'भगवान' भी कह दिया तो उसकी क्या कीमत? स्वभाव से तो सभी भगवान हैं, पर जो पर्याय से भी वर्तमान में हमें भगवान कहता है, उसने हमें भगवान नहीं बनाया, वरन् अपनी मूर्खता व्यक्त की है। **ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १०८**

गाथा पद्यानुवाद

(हरिगीत)

मैं नहीं नारक देव मानव और तिर्यग मैं नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं॥७७॥

मार्गणास्थान जीवस्थान गुणथानक नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं॥७८॥

बालक तरुण बूढा नहीं इन सभी का कारण नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं॥७९॥

मैं मोह राग द्वेष न इन सभी का कारण नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं॥८०॥

मैं मान माया लोभ एवं क्रोध भी मैं हूँ नहीं।
कर्ता कराता और मैं कर्तानुमंता भी नहीं॥८१॥

इस भेद के अभ्यास से मध्यस्थ हो चारित्र हो।
चारित्र दृढता के लिए प्रतिक्रमण की चर्चा करूँ॥८२॥

वचन रचना छोड़कर रागादि का कर परिहरण।
ध्याते सदा जो आतमा होता उन्हीं को प्रतिक्रमण॥८३॥

विराधना को छोड़ जो आराधना में नित रहे।
प्रतिक्रमणामय है इसलिए वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है॥८४॥

जो जीव छोड़ अनाचरण आचार में थिरता धरे।
प्रतिक्रमणामय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उसे॥८५॥

छोड़कर उन्मार्ग जो जिनमार्ग में थिरता धरे।
प्रतिक्रमणामय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उसे॥८६॥

छोड़कर त्रिशल्य जो नि:शल्य होकर परिणमे।
प्रतिक्रमणामय है इसलिए वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है॥८७॥

तज अगुप्तिभाव जो नित गुप्त गुप्ती में रहें।
प्रतिक्रमणामय है इसलिए प्रतिक्रमण कहते हैं उन्हें॥८८॥

तज आर्त एवं रौद्र ध्यावे धरम एवं शुकल को।
परमार्थ से वह प्रतिक्रमण यह कहा जिनवर सूत्र में ।।८९।।

मिथ्यात्व आदिक भाव तो भाये सुचिर इस जीव ने।
सम्यक्त्व आदिक भाव पर भाये नहीं इस जीव ने ।।९०।।

ज्ञानदर्शनचरण मिथ्या पूर्णत: परित्याग कर।
रतनत्रय भावे सदा वह स्वयं ही है प्रतिक्रमण ।।९१।।

उत्तम पदारथ आतमा में लीन मुनिवर कर्म को।
घातते हैं इसलिए निज ध्यान ही है प्रतिक्रमण ।।९२।।

निजध्यान में लवलीन साधु सर्व दोषों को तजे।
बस इसलिए यह ध्यान ही सर्वातिचारी प्रतिक्रमण ।।९३।।

प्रतिक्रमण नामक सूत्र में वर्णन किया जिसरूप में।
प्रतिक्रमण होता उसे जो भावे उसे उस रूप में ।।९४।।

सब तरह के जल्प तज भावी शुभाशुभ भाव को।
जो निवारण कर आत्म ध्यावे उसे प्रत्याख्यान है ।।९५।।

ज्ञानी विचारें इसतरह यह चिन्तवन उनका सदा।
केवल्यदर्शन-ज्ञान-सुख-शक्तिस्वभावी हूँ सदा ।।९६।।

ज्ञानी विचारें देखे-जाने जो सभी को मैं वही।
जो ना ग्रहे परभाव को निज भाव को छोड़े नहीं ।।९७।।

जो प्रकृति थिति अनुभाग और प्रदेश बंध बिन आतमा।
मैं हूँ वही ह्न यह सोचता ज्ञानी करे थिरता वहाँ ।।९८।।

छोड़कर ममभाव निर्ममभाव में मैं थिर रहूँ।
बस स्वयं का अवलम्ब ले अवशेष सब मैं परिहरूँ ।।९९।।

मम ज्ञान में है आतमा दर्शन चरित में आतमा।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान में भी आतमा ।।१००।।

अकेला ही मरे एवं जीव जन्मे अकेला।
मरण होता अकेले का मुक्त भी हो अकेला ।।१०१।।

ज्ञान-दर्शनमयी मेरा एक शाश्वत आतमा।
शेष सब संयोगलक्षण भाव आतम बाह्य हैं ।।१०२।।

मैं त्रिविध मन-वच-काय से सब दुश्चरित को छोड़ता।
अर त्रिविध चारित्र से अब मैं स्वयं को जोड़ता ।।१०३।।

सभी से समभाव मेरा ना किसी से वैर है।
छोड़ आशाभाव सब मैं समाधि धारण करूँ ।।१०४।।

जो निष्कषायी दान्त है भयभीत है संसार से।
व्यवसाययुत उस शूर को सुखमयी प्रत्याख्यान है ।।१०५।।

जो जीव एवं करम के नित करे भेदाभ्यास को।
वह संयमी धारण करे रे नित्य प्रत्याख्यान को ।।१०६।।

जो कर्म से नोकर्म से अर विभावगुणपर्याय से।
भी रहित ध्यावे आतमा आलोचना उस श्रमण के ।।१०७।।

आलोचनं आलुंछनं अर भावशुद्धि अविकृतिकरण।
आलोचना के चार लक्षण भेद आगम में कहे ।।१०८।।

उपदेश यह जिनदेव का परिणाम को समभाव में।
स्थाप कर निज आतमा को देखना आलोचनम् ।।१०९।।

कर्मतरु का मूल छेदक जीव का परिणाम जो।
समभाव है बस इसलिए ही उसे आलुंछन कहा ।।११०।।

निर्मलगुणों का निलय आतम कर्म से भिन जीव को।
भाता सदा जो आतमा अविकृतिकरण वह जानना ।।१११।।

मदमानमायालोभ विरहित भाव को जिनमार्ग में।
भावशुद्धि कहा लोक-अलोकदर्शी देव ने ।।११२।।

जो शील संयम व्रत समिति अर करण निग्रहभाव हैं।
सतत् करने योग्य वे सब भाव ही प्रायश्चित्त हैं ।।११३।।

प्रायश्चित्त क्रोधादि के क्षय आदि की सद्भावना।
अर निजगुणों का चिंतवन यह नियतनय का है कथन ।।११४।।

वे कषायों को जीतते उत्तमक्षमा से क्रोध को।
मान माया लोभ जीते मृदु सरल संतोष से॥११५॥

उत्कृष्ट निज अवबोध अथवा ज्ञान अथवा चित्त जो।
वह चित्त जो धारण करे वह संत ही प्रायश्चित्त है॥११६॥

कर्मक्षय का हेतु जो है ऋषिगणों का तपचरण।
वह पूर्ण प्रायश्चित्त है इससे अधिक हम क्या कहें॥११७॥

अनंत भव में उपार्जित सब कर्मराशि शुभाशुभ।
भसम हो तपचरण से अतएव तप प्रायश्चित्त है॥११८॥

निज आतमा के ध्यान से सब भाव के परिहार की।
इस जीव में सामर्थ्य है निजध्यान ही सर्वस्व है॥११९॥

शुभ-अशुभ रचना वचन वा रागादिभाव निवारि के।
जो करें आतम ध्यान नर उनके नियम से नियम है॥१२०॥

जो जीव स्थिरभाव तज कर तनादि परद्रव्य में।
करे आतमध्यान कायोत्सर्ग होता है उसे॥१२१॥

●●●

व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

व्यवहार का प्रयोग भी जिनवाणी में प्रयोजन से ही किया गया है और निषेध भी प्रयोजन से ही किया गया है। जिनवाणी में बिना प्रयोजन एक शब्द का भी प्रयोग नहीं होता। **ह्न परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ५५**

कलश पद्यानुवाद

(हरिगीत)

कामगज के कुंभथल का किया मर्दन जिन्होंने।
विकसित करें जो शिष्यगण के हृदयपंकज नित्य ही॥
परम संयम और सम्यक्बोध की हैं मूर्ति जो।
हो नमन बारम्बार ऐसे सूरि माधवसेन को॥१०८॥

सम्पूर्ण विषयों के ग्रहण की भावना से मुक्त हों।
निज द्रव्य गुण पर्याय में जो हो गये अनुरक्त हों॥
छोड़कर सब विभावों को नित्य निज में ही रमें।
अति शीघ्र ही वे भव्य मुक्तीरमा की प्राप्ति करें॥१०९॥

(रोला)

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे।
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की॥
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं॥३७॥[१]

इसप्रकार की थिति में मुनिवर भेदज्ञान से।
पापपंक को धोकर समतारूपी जल से॥
ज्ञानरूप होने से आतम मोहमुक्त हो।
शोभित होता समयसार की कैसी महिमा॥११०॥

(हरिगीत)

क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से।
बस एक ही है बात यह परमार्थ का अनुभव करो॥
क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो इस समय के सार से॥३८॥[२]

(दोहा)

तीव्र मोहवश जीव जो किये अशुभतम कृत्य।
उनका कर प्रतिक्रमण मैं रहूँ आतम में नित्य॥१११॥

१. समयसार, कलश १३१ २. वही, कलश २४४

(हरिगीत)

साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है।
बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है।।३९।।[१]

जो सापराधी निरन्तर वे कर्मबंधन कर रहे।
जो निरपराधी वे कभी भी कर्मबंधन ना करें।।
अशुद्ध जाने आतमा को सापराधी जन सदा।
शुद्धात्मसेवी निरपराधी शान्ति सेवें सर्वदा।।४०।।[२]

परमात्मा के ध्यान की संभावना से रहित जो।
संसार पीड़ित अज्ञजन वे सापराधी जीव हैं।।
अखण्ड अर अद्वैत चेतनभाव से संयुक्त जो।
निपुण हैं संन्यास में वे निरपराधी जीव हैं।।११२।।

रे स्वयं से उत्पन्न परमानन्द के पीयूष से।
रे भरा है जो लबालब ज्ञायकस्वभावी आतमा।।
अब उसे शम जल से नहाओ प्रशम भक्तिपूर्वक।
सोचो जरा क्या लाभ है इस व्यर्थ के आलाप से।।११३।।

(रोला)

जन्म-मरण के जनक सर्व दोषों को तजकर।
अनुपम सहजानन्दज्ञानदर्शनवीरजमय।।
आतम में थित होकर समताजल समूह से
कर कलिमलक्षय जीव जगत के साक्षी होते।।११४।।

(मनहरण कवित्त)

उतसर्ग और अपवाद के विभेद द्वारा।
भिन्न-भिन्न भूमिका में व्याप्त जो चरित्र है।।
पुराणपुरुषों के द्वारा सादर है सेवित जो।
उसे प्राप्त कर संत हुए जो पवित्र हैं।।
चित्सामान्य और चैतन्यविशेष रूप।
जिसका प्रकाश ऐसे निज आत्मद्रव्य में।।
क्रमशः पर से पूर्णतः निवृत्ति करके।
सभी ओर से सदा वास करो निज में।।४१।।[३]

१. समयसार, गाथा ३०४ २. समयसार, कलश १८७ ३. प्रवचनसार, कलश १५

(हरिगीत)

जो मुक्त सब संकल्प शुध निजतत्त्व में अनुरक्त हों।
तप मग्न जिनका चित्त नित स्वाध्याय में जो मत्त हों।।
धन्य हैं जो सन्त गुणमणि युक्त विषय विरक्त हों।
वे मुक्तिरूपी सुन्दरी के परम वल्लभ क्यों न हों।।११५।।

(दोहा)

शल्य रहित परमात्म में तीन शल्य को छोड़।
स्थित रह शुद्धात्म को भावैं पंडित लोग।।११६।।

(कुण्डलिया)

अरे कषायों से रंगा भव का हेतु अजोड़।
कामबाण की आग से दग्ध चित्त को छोड़।।
दग्ध चित्त को छोड़ भाग्यवश जो न प्राप्त है।
ऐसा सुख जो निज आतम में सदा व्याप्त है।।
निजस्वभाव में नियत आत्मरस माँहि पगा है।
उसे भजो जो नाँहि कषायों माँहि रंगा है।।११७।।

(हरिगीत)

सद्ज्ञानमय शुद्धात्मा पर है न कोई आवरण।
त्रिगुप्तिधारी मुनिवरों का परम निर्मल आचरण।।
मन-वचन-तन की विकृति को छोड़कर हे भव्यजन!
शुद्धात्मा की भावना से परम गुप्ती को भजो।।११८।।

(रोला)

अरे इन्द्रियों से अतीत अन्तर्मुख निष्क्रिय।
ध्यान-ध्येय के जल्पजाल से पार ध्यान जो।
अरे विकल्पातीत आतमा की अनुभूति।
ही है शुक्लध्यान योगिजन ऐसा कहते।।४२।।

सदा प्रगट कल्याणरूप परमात्मतत्त्व में।
ध्यानावलि है कभी कहे न परमशुद्धनय।।
ऐसा तो व्यवहारमार्ग में ही कहते हैं।
हे जिनवर यह तो सब अद्भुत इन्द्रजाल है।।११९।।

ज्ञानतत्त्व का आभूषण परमात्मतत्त्व यह।
अरे विकल्पों के समूह से सदा मुक्त है॥
नय समूहगत यह प्रपंच न आत्मतत्त्व में।
तब ध्यानावलि कैसे आई कहो जिनेश्वर॥१२०॥

(दोहा)

पहले कभी न भायी जो भवावर्त्त के माँहि।
भवाभाव के लिए अब मैं भाता हूँ ताहि॥४३॥[१]

(हरिगीत)

संसार सागर में मगन इस आत्मघाती जीव ने।
रे मात्र कहने के धर्म की वार्ता भव-भव सुनी॥
धारण किया पर खेद है कि अरे रे इस जीव ने।
ज्ञायकस्वभावी आत्मा की बात भी न कभी सुनी॥१२१॥

(दोहा)

जानकार निजतत्त्व के तज विभाव व्यवहार।
आत्मज्ञान श्रद्धानमय धरें विमल आचार॥१२२॥

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुंभ हैं॥४४॥[२]

(रोला)

प्रतिक्रमण भी अरे जहाँ विष-जहर कहा हो।
अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को॥
अरे प्रमादी लोग अधोऽध: क्यों जाते हैं ?
इस प्रमाद को त्याग ऊर्ध्व में क्यों नहीं जाते ?॥४५॥[३]

(हरिगीत)

रे ध्यान-ध्येय विकल्प भी सब कल्पना में रम्य हैं।
इक आतमा के ध्यान बिन सब भाव भव के मूल हैं॥
यह जानकर शुध सहज परमानन्द अमृत बाढ में।
डुबकी लगाकर सन्तजन हों मगन परमानन्द में॥१२३॥

१. आत्मानुशासन, श्लोक २३८ २. समयसार, गाथा ३०६ ३. समयसार, श्लोक १८९

चित्तमंदिर में सदा दीपक जले शुक्लध्यान का।
उस योगि को शुद्धातमा प्रत्यक्ष होता है सदा॥१२४॥

(दोहा)

निर्यापक आचार्य के सुनकर वचन सयुक्ति।
जिनका चित्त चारित्र घर वन्दूँ उनको नित्य॥१२५॥

(वसंततिलका)

अरे जिन्हें प्रतिक्रमण ही नित्य वर्ते।
अणुमात्र अप्रतिक्रमण जिनके नहीं है॥
जो सकल संयम भूषण नित्य धारें।
उन वीरनन्दि मुनि को नित ही नमें हम॥१२६॥

(हरिगीत)

परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करे।
तब त्याग हो बस इसलिए ही ज्ञान प्रत्याख्यान है॥४६॥[१]

(रोला)

नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं।
करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो॥
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥४७॥[२]

(हरिगीत)

जो ज्ञानि छोड़े कर्म अर नोकर्म के समुदाय को।
उस ज्ञानमूर्ति विज्ञजन को सदा प्रत्याख्यान है॥
और सत् चारित्र भी है क्योंकि नाशे पाप सब।
वन्दन करूँ नित भवदुखों से मुक्त होनेके लिए॥१२७॥

(रोला)

केवलदर्शनज्ञानसौख्यमय परमतेज वह।
उसे देखते किसे न देखा कहना मुश्किल॥
उसे जानते किसे न जाना कहना मुश्किल।
उसे सुना तो किसे न सुना कहना मुश्किल॥४८॥[३]

१. समयसार, गाथा ३४
२. वही, कलश २२८ ३.पद्मनन्दिपंचविंशति, एकत्वसप्तति अधिकार, छन्द २०

(अडिल्ल)

मुनिराजों के हृदयकमल का हंस जो।
निर्मल जिसकी दृष्टि ज्ञान की मूर्ति जो॥
सहज परम चैतन्य शक्तिमय जानिये।
सुखमय परमातमा सदा जयवंत है॥१२८॥

(हरिगीत)

जो गृहीत को छोड़े नहीं पर न ग्रहे अग्राह्य को।
जाने सभी को मैं वही है स्वानुभूति गम्य जो॥४९॥[१]

आतमा में आतमा को जानता है देखता।
बस एक पंचमभाव है जो नंतगुणमय आतमा॥
उस आतमा ने आजतक छोड़ा न पंचमभाव को।
और जो न ग्रहण करता पुद्गलिक परभाव को॥१२९॥

(रोला)

अन्य द्रव्य के आग्रह से जो पैदा होता।
उस तन को तज पूर्ण सहज ज्ञानात्मक सुख की॥
प्राप्ति हेतु नित लगा हुआ है निज आतम में।
अमृतभोजी देव लगे क्यों अन्य असन में॥१३०॥

अन्य द्रव्य के कारण से उत्पन्न नहीं जो।
निज आतम के आश्रय से जो पैदा होता॥
उस अमृतमय सुख को पी जो सुकृत छोड़े।
प्रगटरूप से वे चित् चिन्तामणि को पावें॥१३१॥

(दोहा)

गुरुचरणों की भक्ति से जाने निज माहात्म्य।
ऐसा बुध कैसे कहे मेरा यह परद्रव्य॥१३२॥

(हरिगीत)

जो मूल शिव साम्राज्य परमानन्दमय चिद्रूप है।
बस ग्रहण करना योग्य है इस एक अनुपम भाव को॥
इसलिए हे मित्र सुन मेरे वचन के सार को।
इसमें रमो अति उग्र हो आनन्द अपरम्पार हो॥१३३॥

१. समाधिशतक, छन्द २०

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में॥
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते॥५०॥[१]

(हरिगीत)

मन-वचन-तन व इंद्रियों की वासना का दमक मैं।
भव उदधि संभव मोह जलचर और कंचन कामिनी॥
की चाह को मैं ध्यानबल से चाहता हूँ छोड़ना।
निज आतमा में आतमा को चाहता हूँ जोड़ना॥१३४॥

(दोहा)

वही एक मेरे लिए परमज्ञान चारित्र।
पावन दर्शन तप वही निर्मल परम पवित्र॥५१॥[२]

सत्पुरुषों के लिए वह एकमात्र संयोग।
मंगल उत्तम शरण अर नमस्कार के योग्य॥५२॥[३]

योगी जो अप्रमत्त हैं उन्हें एक आचार।
स्वाध्याय भी है वही आवश्यक व्यवहार॥५३॥[४]

(हरिगीत)

इक आतमा ही बस रहा मम सहज दर्शन-ज्ञान में।
संवर में शुध उपयोग में चारित्र प्रत्याख्यान में॥
दुष्कर्म अर सत्कर्म ह्न इन सब कर्म के संन्यास में।
मुक्ति पाने के लिए अन कोई साधन है नहीं॥१३५॥

(भुजंगप्रयात)

किया नष्ट जिसने है अघतिमिर को,
रहता सदा सत्पुरुष के हृदय में।
कभी विज्ञजन को निर्मल अनिर्मल,
निर्मल-अनिर्मल देता दिखाई॥

१. समयसार, कलश १०४ २. पद्मनंदिपंचविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, श्लोक ३९
३. वही, श्लोक ४० ४. वही, श्लोक ४१

जो नष्ट करता है अघ तिमिर को,
वह ज्ञानदीपक भगवान आतम।
अज्ञानियों के लिए तो गहन है,
पर ज्ञानियों को देता दिखाई ॥१३६॥

(दोहा)

स्वयं करे भोगे स्वयं यह आतम जग माँहि।
स्वयं रुले संसार में स्वयं मुक्त हो जाँहि ॥५४॥

(वीर)

जनम-मरण के सुख-दुख तुमने स्वयं अकेले भोगे हैं।
मात-पिता सुत-सुता बन्धुजन कोई साथ न देते हैं॥
यह सब टोली धूर्तजनों की अपने-अपने स्वारथ से।
लगी हुई है साथ तुम्हारे पर न कोई तुम्हारे हैं॥५५॥[१]
जीव अकेला कर्म घनेरे उनने इसको घेरा है।
तीव्र मोहवश इसने निज से अपना मुखड़ा फेरा है॥
जनम-मरण के दुःख अनंते इसने अबतक प्राप्त किये।
गुरु प्रसाद से तत्त्व प्राप्त कर निज में किया वसेरा है॥१३७॥
सदा शुद्ध शाश्वत परमातम मेरा तत्त्व अनेरा है।
सहज परम चिद् चिन्तामणि चैतन्य गुणों का बसेरा है॥
अरे कथंचित् एक दिव्य निज दर्शन-ज्ञान भरेला है।
अन्य भाव जो बहु प्रकार के उनमें कोई न मेरा है॥१३८॥

(दोहा)

चरण द्रव्य अनुसार हो द्रव्य चरण अनुसार।
शिवपथगामी बनो तुम दोनों के अनुसार॥५६॥[२]
जिनका चित्त आसक्त है निज आतम के माँहि।
सावधानी संयम विषैं उन्हें मरणभय नाँहि॥१३९॥

(रोला)

हे भाई ! तुम महासबल तज कर प्रमाद अब।
समतारूपी कुलदेवी को याद करो तुम॥
अज्ञ सचिव युत मोह शत्रु का नाशक है जो।
ऐसे सम्यग्ज्ञान चक्र को ग्रहण करो तुम॥५७॥[३]

१. यशस्तिलकचंपूकाव्य, द्वितीय अधिकार, श्लोक ११९
२. प्रवचनसार, श्लोक १२ ३. अमृताशीति, श्लोक २१

(हरिगीत)

मुक्त्यांगना का भ्रमर अर जो मोक्षसुख का मूल है।
दुर्भावनातमविनाशक दिनकरप्रभा समतूल है॥
संयमीजन सदा संमत रहें समताभाव से।
मैं भाऊँ समताभाव को अत्यन्त भक्तिभाव से॥१४०॥

जो योगियों को महादुर्लभ भाव अपरंपार है।
त्रैलोक्यजन अर मुनिवरों का अनोखालंकार है॥
सुखोदधि के ज्वार को जो पूर्णिमा का चन्द्र है।
दीक्षांगना की सखी यह समता सदा जयवंत है॥१४१॥

अरे समतासुन्दरी के कर्ण का भूषण कहा।
और दीक्षा सुन्दरी की जवानी का हेतु जो॥
अरे प्रत्याख्यान वह जिनदेव ने जैसा कहा।
निर्वाण सुख दातार वह तो सदा ही जयवंत है॥१४२॥

(रोला)

भाविकाल के भावों से तो मैं निवृत्त हूँ।
इसप्रकार के भावों को तुम नित प्रति भावो॥
निज स्वरूप जो सुख निधान उसको हे भाई!
यदि छूटना कर्मफलों से प्रतिदिन भावो॥१४३॥

परमतत्त्व तो अरे भयंकर भव सागर की।
नौका है ह्न यह बात कही है परमेश्वर ने॥
इसीलिए तो मैं भाता हूँ परमतत्त्व को।
अरे निरन्तर अन्तरतम से भक्तिभाव से॥१४४॥

भ्रान्ति नाश से जिनकी मति चैतन्यतत्त्व में।
निष्ठित है वे संत निरंतर प्रत्याख्यान में॥
अन्य मतों में जिनकी निष्ठा वे योगीजन।
भ्रमे घोर संसार नहीं वे प्रत्याख्यान में॥१४५॥

जो शाश्वत आनन्द जगतजन में प्रसिद्ध है।
वह रहता है सदा अनूपम सिद्ध पुरुष में॥
ऐसी थिति में जड़बुद्धि बुधजन क्यों रे रे।
कामबाण से घायल हो उसको ही चाहें ?॥१४६॥

अघ वृक्षों की अटवी को वह्नि समान है।
ऐसा सत् चारित्र सदा है प्रत्यखान में ।।
इसीलिए हे भव्य स्वयं की बुद्धि को तू।
आत्मतत्त्व में लगा सहज सुख देने वाले ।।१४७।।

जो सुस्थित है धीमानों के हृदय कमल में।
अर जिसने मोहान्धकार का नाश किया है ।।
सहजतत्त्व निज के प्रकाश से ज्योतित होकर।
अरे प्रकाशन मात्र और जयवंत सदा है ।।१४८।।

सकल दोष से दूर अखण्डित शाश्वत है जो।
भवसागर में डूबों को नौका समान है।।
संकटरूपी दावानल को जल समान जो।
भक्तिभाव से नमस्कार उस सहजतत्त्व को ।।१४९।।

जिनमुख से है विदित और थित है स्वरूप में।
रत्नदीप सा जगमगात है मुनिमन घट में ।।
मोहकर्म विजयी मुनिवर से नमन योग्य है।
उस सुखमंदिर सहजतत्त्व को मेरा वंदन ।।१५०।।

पुण्य-पाप को नाश काम को खिरा दिया है।
महल ज्ञान का अरे काम ना शेष रहा है।।
पुष्ट गुणों का धाम मोह रजनी का नाशक।
तत्त्ववेदिजन नमें उसी को हम भी नमते ।।१५१।।

मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो।
उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो ।।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ।।५८।।[1]

किये कराये अनुमोदित पापों का अब तो।
आलोचन करता हूँ मैं निष्कपट भाव से ।।
अरे पूर्णत: उन्हें छोड़ने का अभिलाषी।
धारण करता यह महान व्रत अरे आमरण ।।५९।।[2]

१. समयसार, कलश २२७ २. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२५

पुण्य-पाप के भाव घोर संसार मूल हैं।
बार-बार उन सबका आलोचन करके मैं ।।
शुद्ध आतमा का अवलम्बन लेकर विधिवत्।
द्रव्यकर्म को नाश ज्ञानलक्ष्मी को पाऊँ ।।१५२।।

(हरिगीत)

मुक्तिरूपी अंगना के समागम के हेतु जो।
भेद हैं आलोचना के उन्हें जो भवि जानकर ।।
निज आतमा में लीन हो नित आत्मनिष्ठित ही रहें।
हो नमन बारंबार उनको जो सदा निजरत रहें ।।१५३।।

जो आतमा को स्वयं में अविचलनिलय ही देखता।
वह आतमा आनन्दमय शिवसंगनी सुख भोगता ।।
संयतों से इन्द्र चक्री और विद्याधरों से।
भी वंद्य गुणभंडार आतमराम को वंदन करूँ ।।१५४।।

जगतजन के मन-वचन से अगोचर जो आतमा।
वह ज्ञानज्योति पापतम नाशक पुरातन आतमा ।।
जो परम संयमिजनों के नित चित्त पंकज में बसे।
उसकी कथा क्या करें क्या न करें हम नहिं जानते ।।१५५।।

इन्द्रियरव से मुक्त अर अज्ञानियों से दूर है।
अर नय-अनय से दूर फिर भी योगियों को गम्य है ।।
सदा मंगलमय सदा उत्कृष्ट आतमतत्त्व जो।
वह पापभावों से रहित चेतन सदा जयवंत है ।।१५६।।

श्रीपरमगुरुओं की कृपा से भव्यजन इस लोक में।
निज सुख सुधासागर निमज्जित आतमा को जानकर ।।
नित प्राप्त करते सहजसुख निर्भेद दृष्टिवंत हो।
उस अपूरब तत्त्व को मैं भा रहा अति प्रीति से ।।१५७।।

सब ग्रन्थ से निर्ग्रन्थ शुध परभावदल से मुक्त है।
निर्मोह है निष्पाप है वह परम आतमतत्त्व है ।।
निर्वाणवनिताजन्यसुख को प्राप्त करने के लिए।
उस तत्त्व को करता नमन नित भावना भी उसी की ।।१५८।।

भिन्न जो निजभाव से उन विभावों को छोड़कर।
मैं करूँ नित चिन्मात्र निर्मल आतमा की भावना।।
कर जोड़कर मैं नमन करता मुक्ति मारग को सदा।
इस दुखमयी भव-उदधि से बस पार पाने के लिए।।१५९।।

हैं आत्मनिष्ठा परायण जो मूल उनकी मुक्ति का।
जो सहजवस्थारूप पुण्य-पाप एकाकार है।।
जो शुद्ध है नित शुद्ध एवं स्वरस से भरपूर है।
जयवंत पंचमभाव वह जो आत्मा का नूर है।।१६०।।

इस जगतजन की ज्ञानज्योति अरे काल अनादि से।
रे मोहवश मदमत्त एवं मूढ है निजकार्य में।।
निर्मोह तो वह ज्ञानज्योति प्राप्त कर शुधभाव को।
उज्ज्वल करे सब ओर से तब सहजवस्था प्राप्त हो।।१६१।।

अरे अन्तःशुद्ध शम-दमगुणकमलनी हंस जो।
आनन्द गुण भरपूर कर्मों से सदा है भिन्न जो।।
चैतन्यमूर्ति अनूप नित छोड़े न ज्ञानस्वभाव को।
वह आत्मा न ग्रहे किंचित् किसी भी परभाव को।।१६२।।

अरे निर्मलभाव अमृत उदधि में डुबकी लगा।
धोये हैं पापकलंक एवं शान्त कोलाहल किया।।
इन्द्रियों से जन्य अक्षय अलख गुणमय आतमा।
रे स्वयं अन्तर्ज्योति से तम नाश जगमग हो रहा।।१६३।।

(रोला)

अरे सहज ही घोर दुःख संसार घोर में।
प्रतिदिन तपते जीव अनंते घोर दुःखों से।।
किन्तु मुनिजन तो नित समता के प्रसाद से।
अरे शमामृत हिम की शीतलता पाते हैं।।१६४।।

रे विभावतन मुक्त जीव तो कभी न पाते।
क्योंकि उन्होंने सुकृत-दुष्कृत नाश किये हैं।।
इसीलिए तो सुकृत-दुष्कृत कर्मजाल तज।
अरे जा रहा हूँ मुमुक्षुओं के मारग में।।१६५।।

(दोहा)

अस्थिर पुद्गलखंध तन तज भवमूरत जान।
सदा शुद्ध जो ज्ञानतन पाया आतम राम।।१६६।।

शुध चेतन की भावना रहित शुभाशुभभाव।
औषधि है भव रोग की वीतरागमय भाव।।१६७।।

(रोला)

अरे पंचपरिवर्तनवाले भव के कारण।
विविध विकल्पोंवाले शुभ अर अशुभ कर्म हैं।।
अरे जानकर ऐसा जनम-मरण से विरहित।
मुक्ति प्रदाता शुद्धातम को नमन करूँ मैं।।१६८।।

यद्यपि आदि-अन्त से विरहित आतमज्योति।
सत्य और सुमधुर वाणी का विषय नहीं है।।
फिर भी गुरुवचनों से आतमज्योति प्राप्त कर।
सम्यग्दृष्टि जीव मुक्तिवधु वल्लभ होते।।१६९।।

अरे रागतम सहजतेज से नाश किया है।
मुनिमनगोचर शुद्ध शुद्ध उनके मन बसता।
विषयी जीवों को दुर्लभ जो सुख समुद्र है।
शुद्ध ज्ञानमय शुद्धातम जयवंत वर्तता।।१७०।।

(हरिगीत)

जिनवर कथित आलोचना के भेद सब पहिचान कर।
भव्य के श्रद्धेय ज्ञायकभाव को भी जानकर।।
जो भव्य छोड़े सर्वतः परभाव को पर जानकर।
हो वही वल्लभ परमश्री का परमपद को प्राप्त कर।।१७१।।

(रोला)

संयमधारी सन्तों को फल मुक्तिमार्ग का।
जो देती है और स्वयं के आत्मतत्त्व में।।
नियत आचरण के अनुरूप आचरणवाली।
वह आलोचना मेरे मन को कामधेनु हो।।१७२।।

तीन लोक के ज्ञायक निर्विकल्प तत्त्व को।
जो मुमुक्षुजन जान उसी की सिद्धि के लिए।।
शुद्ध शील आचरे रमे निज आतम में नित।
सिद्धि प्राप्त कर मुक्तिवधु के स्वामी होते।।१७३।।

आत्मतत्त्व में मग्न मुनिजनों के मन में जो।
वह विशुद्ध निर्बाध ज्ञानदीपक निज आतम।।
मुनिमनतम का नाशक नौका भवसागर की।
साधुजनों से वंद्य तत्त्व को वंदन करता।।१७४।।

बुद्धिमान होने पर भी क्या कोई तपस्वी।
ऐसा कह सकता कि करो तुम नये पाप को।।
अरे खेद आश्चर्य शुद्ध आतम को जाने।
फिर भी ऐसा कहे समझ के बाहर है यह।।१७५।।

सब तत्त्वों में सहज तत्त्व निज आतम ही है।
सदा अनाकुल सतत् सुलभ निज आतम ही है।।
परमकला सम्पन्न प्रगट घर समता का जो।
निज महिमारत आत्मतत्त्व जयवंत सदा है।।१७६।।

सात तत्त्व में प्रमुख सहज सम्पूर्ण विमल है।
निरावरण शिव विशद नित्य अत्यन्त अमल है।।
उसे नमन जो अति दूर मुनि-मन-वचनों से।
परपंचों से विलग आत्म आनन्द मगन है।।१७७।।

अरे शान्तरसरूपी अमृत के सागर को।
नित्य उल्लसित करने को तुम पूर्णचन्द हो।।
मोहतिमिर के नाशक दिनकर भी तो तुम हो।
हे जिन निज में लीन सदा जयवंत जगत में।।१७८।।

वे जिनेन्द्र जयवन्त परमपद में स्थित जो।
जिनने जरा जनम-मरण को जीत लिया है।।
अरे पापतम के नाशक ने राग-द्वेष का।
निर्मूलन कर पूर्ण मूल से हनन किया है।।१७९।।

(हरिगीत)

मुनिजनों के चित्त में जो स्वात्मा का निरन्तर।
हो रहा है चिन्तवन बस यही प्रायश्चित्त है।।
वे सन्त पावें मुक्ति पर जो अन्य-चिन्तामूढ हों।
कामार्त्त वे मुनिराज बाँधें पाप क्या आश्चर्य है ?।।१८०।।

(रोला)

कामक्रोध आदिक जितने भी अन्य भाव हैं।
उनके क्षय की अथवा अपने ज्ञानभाव की।।
प्रबल भावना ही है प्रायश्चित्त कहा है।
ज्ञानप्रवाद पूर्व के ज्ञायक संतगणों ने।।१८१।।
अरे हृदय में कामभाव के होने पर भी।
क्रोधित होकर किसी पुरुष को काम समझकर।।
जला दिया हो महादेव ने फिर भी विह्वल।
क्रोधभाव से नहीं हुई है किसकी हानि ?।।६०।।[१]

(वीर)

अरे हस्तगत चक्ररत्न को बाहुबली ने त्याग दिया।
यदि न होता मान उन्हें तो मुक्तिरमा तत्क्षण वरते।।
किन्तु मान के कारण ही वे एक बरस तक खड़े रहे।
इससे होता सिद्ध तनिक सा मान अपरिमित दुख देता।।६१।।[२]
अरे देखना सहज नहीं क्रोधादि भयंकर सांपों को।
क्योंकि वे सब छिपे हुए हैं मायारूपी गर्तों में।।
मिथ्यातम है घोर भयंकर डरते रहना ही समुचित।
यह सब माया की महिमा है बचके रहना ही समुचित।।६२।।[३]
वनचर भय से भाग रही पर उलझी पूँछ लताओं में।
दैवयोग से चमर गाय वह मुग्ध पूँछ के बालों में।।
खड़ी रही वह वहीं मार डाला वनचर ने उसे वहीं।
इसप्रकार की विकट विपत्ति मिलती सभी लोभियों को।।६३।।[४]

(सोरठा)

क्षमाभाव से क्रोध, मान मार्दव भाव से।
जीतो माया-लोभ आर्जव एवं शौच से।।१८२।।

---

१. आत्मानुशासन, छन्द २१६ २. वही, छन्द २१७
३. वही, छन्द २२१ ४. वही, छन्द २२३

(हरिगीत)

शुद्धात्मा के ज्ञान की संभावना जिस संत में।
आत्मरत उस सन्त को तो नित्य प्रायश्चित्त है॥
धो दिये सब पाप अर निज में रमे जो संत नित।
मैं नमूँ उनको उन गुणों को प्राप्त करने के लिए॥१८३॥

(दोहा)

अनशनादि तप चरणमय और ज्ञान से गम्य।
अघक्षयकारण तत्त्वनिज सहजशुद्धचैतन्य॥१८४॥

(रोला)

अरे प्रायश्चित्त उत्तम पुरुषों को जो होता।
धर्मध्यानमय शुक्लध्यानमय चिन्तन है वह॥
कर्मान्धकार का नाशक यह सद्बोध तेज है।
निर्विकार अपनी महिमा में लीन सदा है॥१८५॥

(हरिगीत)

आत्म की उपलब्धि होती आतमा के ज्ञान से।
मुनिजनों के करणरूपी घोरतम को नाशकर॥
कर्मवन उद्भव भवानल नाश करने के लिए।
वह ज्ञानज्योति सतत् शमजलधार को है छोड़ती॥१८६॥

(भुजंगप्रयात)

जिनशास्त्ररूपी अमृत उदधि से।
बाहर हुई संयम रत्नमाला॥
मुक्तिवधू वल्लभ तत्त्वज्ञानी।
के कण्ठ की वह शोभा बनी है॥१८७॥

भवरूप पादप जड़ का विनाशक।
मुनीराज के चित कमल में रहे नित॥
अर मुक्तिकांतारतिजन्य सुख का।
मूल जो आतम उसको नमन हो॥१८८॥

रे रे अनादि संसार से जो
समृद्ध कर्मों का वन भयंकर।
उसे भस्म करने में है सबल जो
अर मोक्षलक्ष्मी की भेंट है जो॥
शमसुखमयी चैतन्य अमृत
आनन्दधारा से जो लबालब।
ऐसा जो तप है उसे संतगण सब
प्रायश्चित कहते हैं निरन्तर॥१८९॥

(रोला)

परमकला युत शुद्ध एक आनन्दमूर्ति है।
तमनाशक जो नित्यज्योति आद्यन्त शून्य है॥
उस आतम को जो भविजन अविचल मनवाला।
ध्यावे तो वह शीघ्र मोक्ष पदवी को पाता॥१९०॥

(हरिगीत)

जो भव्य भावें सहज सम्यक् भाव से परमात्मा।
ज्ञानात्मक उस परम संयमवंत को आनन्दमय॥
शिवसुन्दरी के सुक्ख का कारण परमपरमातमा।
के लक्ष्य से सद्भावमय शुधनियम होता नियम से॥१९१॥

(हरिगीत)

जो अनवरत अद्वैत चेतन निर्विकारी है सदा।
उस आत्म को नय की तरंगें स्फुरित होती नहीं॥
विकल्पों से पार एक अभेद जो शुद्धातमा।
हो नमन, वंदन, स्तवन अर भावना हो भव्यतम॥१९२॥

(हरिगीत)

यह ध्यान है यह ध्येय है और यह ध्याता अरे।
यह ध्यान का फल इसतरह के विकल्पों के जाल से॥
जो मुक्त है श्रद्धेय है अर ध्येय एवं ध्यान है।
उस परम आतमतत्त्व को मम नमन बारंबार है॥१९३॥

त्रिविध योगों में परायण योगियों को कदाचित्।
हो भेद की उलझन अरे बहु विकल्पों का जाल हो॥
उन योगियों की मुक्ति होगी या नहीं कैसे कहें।
कौन जाने क्या कहे ह्न यह समझ में आता नहीं॥१९४॥

रे सभी कारज कायकृत मन के विकल्प अनल्प जो।
अर जल्पवाणी के सभी को छोड़ने के हेतु से॥
निज आत्मा के ध्यान से जो स्वात्मनिष्ठापरायण।
हे भव्यजन उन संयमी के सतत् कायोत्सर्ग है॥१९५॥

मोहतम से मुक्त आतमतेज से अभिषिक्त है।
दृष्टि से परिपूर्ण सुखमय सहज आतमतत्त्व है॥
संसार में परिताप की परिकल्पना से मुक्त है।
अरे ज्योतिर्मान निज परमातमा जयवंत है॥१९६॥

संसारसुख अति अल्प केवल कल्पना में रम्य है।
मैं छोड़ता हूँ उसे सम्यक् रीति आतमशक्ति से॥
मैं चेतता हूँ सर्वदा चैतन्य के सद्ज्ञान में।
स्फुरित हूँ मैं परमसुखमय आतमा के ध्यान में॥१९७॥

(हरिगीत)

समाधि की है विषय जो मेरे हृदय में स्फुरित।
स्वातम गुणों की संपदा को एक क्षण जाना नहीं॥
त्रैलोक्य वैभव विनाशक दुष्कर्म की गुणशक्ति के।
निमित्त से रे हाय मैं संसार में मारा गया॥१९८॥

(दोहा)

सांसारिक विषवृक्षफल दुख के कारण जान।
आत्मा से उत्पन्न सुख भोगूँ मैं भगवान॥१९९॥

●●●